कव्वे और काला पानी

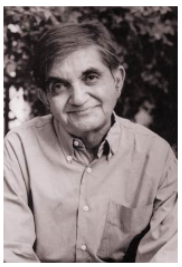

निर्मल वर्मा

हिन्दी ADDA

कव्वे और काला पानी

https://www.hindiadda.com/kavve-aur-kala-pani/

मास्टर साहब पहले व्यक्ति थे, जिनसे मैं उस निर्जन, छोटे, उपेक्षित पहाड़ी कस्बे में मिला था। पहले दिन ही... मैं बस से उतर ही रहा था, तो देखा, सारा शहर पानी में भीग रहा है; भुवाली में धूप, रामगढ़ पर बादल और यहाँ बारिश - हमारी बस ने तीन घंटों के दौरान तीन अलग-अलग मौसम पार कर लिए थे; और अब वह बाजार के बीच खड़ी थी - अपनी छत से मेरा सामान नीचे फट-फट फेंकती हुई, फटीचर सामान, जो मैं दिल्ली से ढो कर वहाँ लाया था - बाबू का एक पुराना होल्डॉल और पुराने जमाने का टीन का ट्रंक, जिस पर पुरानी यात्राओं के लेबल मुर्दा तिलचट्टों-से चिपके थे।

मैं बीच बाजार में खड़ा था - पानी में चका डुब्ब; और मेरा सामान किनारे पर पड़ा था अपनी दरिद्रता में भीगता हुआ; पता नहीं कैसे - बारिश में शहर और आदमियों की समूची लुटी-पिटी फटेहाली अपनी थिगलियाँ खोल बाहर निकल आती हैं। सिर्फ मेरे ब्रीफकेस से लगता था कि मैं बाबू-जाति का हूँ और मैंने भी उसे सभ्यता की अंतिम निशानी की तरह छाती से चिपका कर रख छोड़ा था... लेकिन सिर्फ इसलिए नहीं; इसलिए भी कि उस ब्रीफकेस में वह समूचा प्रयोजन छिपा था, जिसे ले कर मैं अपना शहर और घर-गृहस्थी छोड़ कर उस अजनबी, पहाड़ी शहर में आया था।

हिंदुस्तान के छोटे, कस्बाई शहर वैसे ही त्रासदायी लगते हैं - ऊपर से बारिश, ठंड और अँधेरा; जब बस चलने लगी तो, पागल-सा विचार आया कि लपक कर उसमें घुस जाऊँ और कंडक्टर से प्रार्थना करूँ कि मुझे दोबारा भुवाली और हलद्वानी और दिल्ली की तरफ ले जाए... अपनी जिंदगी की जानी और सुरक्षित रोशनी में, जहाँ न अजनबी शहर की बारिश थी, न पहाड़ी ढाबों की गंध - लेकिन बस रुकी नहीं - न वह मुड़ी, उसे कहीं और आगे जाना था; मैं खड़ा-खड़ा उसके पीछे की लाल सुर्ख रोशनी को देखता रहा जो बारिश की धुंध में एक मैले खून के धब्बे-सी दूर तक पीछे सरकती गई।

मैंने आसपास देखा; सामने एक छोटा-सा बाजार था - मोटर रोड से थोड़ा ऊपर उठा हुआ - जिस पर तीन-चार खोखल दिखाई देते थे - पीली लालटेनों में धुँधुआते हुए। सबसे निचली खोह में, बस-स्टेशन से लगभग चिपकी हुई एक चाय की दुकान थी, जहाँ दो-चार लोग टाट की खपरैल के नीचे बैठे थे; मैंने अब अपने ब्रीफकेस को छाते की तरह सिर पर रख लिया था, किंतु मेरे टीन के संदूक और होल्डॉल की हालत बुरी थी; सड़क के किनारे बारिश में भीगते हुए वे मुझसे भी ज्यादा दयनीय दिखाई दे रहे थे।

मैं कुछ देर इस उम्मीद में खड़ा रहा कि चाय की दुकान में बैठा कोई आदमी जरूर मुझ पर रहम करेगा, लेकिन अब वे शायद मुझे देख भी नहीं सकते थे; बारिश की दीवार ने मुझे जैसे अचानक अपनी ओट में बाकी दुनिया से अलग कर दिया था। मेरे साथ तीन-चार सवारियाँ, जो बस से नीचे उतरी थीं, पता नहीं शहर के किसी अँधेरे कोटर में गायब हो गई थीं।

अचानक मुझे अपने सामने एक छाता दिखाई दिया, वह कुछ देर तक मेरे आगे डोलता रहा, मानो तय न कर पा रहा हो कि मैं कौन हूँ, आदमी या प्रेत? फिर छाते के भीतर से एक पीला, पहाड़ी चेहरा बाहर आया, 'यह आपका सामान है?' उसने मेरे ट्रंक और होल्डॉल की ओर इशारा किया।

'जी...' मैंने कहा।

'और आप?'

'मैं?'

'कहाँ जाना है?' उन्होंने पूछा।

'पास में कोई होटल है?' मैंने लगभग रिरियाते हुए पूछा।

'होटल, यहाँ?' उन्होंने मुझे कुछ ऐसे देखा, जैसे मैं जीते-जी स्वर्ग की कामना कर रहा हूँ।

'कोई भी जगह रहने के लिए,' मैंने कहा।

इस बार उनके चेहरे पर हल्की-सी उत्सुकता चमक आई।

'कितने दिन के लिए?' उन्होंने पूछा।

मैं असमंजस में खड़ा उन्हें देखता रहा; जब घर से चला था, तो दिन-महीनों का कोई हिसाब नहीं जोड़ा था... मैं कुछ कह पाता, इससे पहले ही उन्होंने अपना छाता मेरे ऊपर कर दिया। पहले मैं ही भीग रहा था, अब एक छाते के नीचे हम दोनों आधा-आधा भीगने लगे।

'एक रेस्ट-हाउस है - लेकिन आपको तीन कि.मी. ऊपर चढ़ना पड़ेगा।'

'कोई कुली मिल सकता है?'

'इस वक्त?' उन्होंने बाजार की तरफ देखा, फिर मेरी तरफ - और तब सहसा कुछ सोच कर मेरे संदूक को हैंडिल से पकड़ लिया।

'चलिए, मेरे साथ आइए।'

मैंने उन्हें रोकना चाहा, किंतु वे मेरा संदूक उठा कर आगे बढ़ गए थे, मेरे पास कोई चारा नहीं था, सिवा इसके कि मैं भी अपना होल्डॉल उठा कर उनके पीछे-पीछे चल पड़ूँ। मुझे कुछ हैरानी हुई कि इतना दुबला-पतला आदमी एक हाथ में छाता, दूसरे हाथ में ट्रंक पकड़ कर इतनी तेजी से ऊपर चढ़ सकता है!

बस-स्टेशन पीछे छूट गया। बाजार की दुकानें बहुत नीचे ढुलक गईं - और हम ऊपर चढ़ते गए; शायद यह कहना ठीक होगा कि वे ऊपर चढ़ते गए और मैं उनके पीछे घिसटता रहा। बारिश की चहबच्चों और कीचड़ में मेरे पैर बार-बार रपट जाते थे। एक बार पीछे मुड़ कर उन्होंने मुझसे कुछ कहा, जिसे मैं नहीं सुन सका। मैं सिर्फ अपने दिल की धुकधुकी ही सुन पा रहा था, जो हर कदम पर तेज हो जाती थी। माथे पर बहते पानी में कितना पसीना था, कितनी बारिश, इसका पता चलाना भी असंभव था।

उस दिन मैं अपनी यात्रा की थकान और भीतर की बेचैनी के बावजूद अंधाधुंध कितना ऊपर चढ़ गया था, यह सोच कर हैरानी होती है। मैं उम्र में ही ऊपर चढ़ा हूँ, पहाड़ पर नहीं; पहाड़ की चढ़ाई तो दूर; घर का जीना चढ़ते ही भीतर की अलार्म घड़ी रिरियाने लगती है। जिंदगी में पहली बार किसी अनजानी जगह आना हुआ था - अपनी इच्छा से नहीं - अपनी इच्छा होती तो देहरी के परे पाँव नहीं रखता; कम-से-कम इस जगह नहीं लेकिन वह जगह मैंने नहीं चुनी थी; जिन्होंने चुनी थी, मैं उन्हें ही खोजने इतनी दूर चला आया था।

'आइए, भीतर चले आइए,' उन्होंने दरवाजा खोल कर मेरी ओर देखा।

पहले क्षण कुछ दिखाई नहीं दिया; मैं देहरी पर खड़ा था, बारिश से बचता हुआ; फिर अचानक कोई चीज भक से जल उठी - लालटेन की रोशनी। और तब मुझे पता चला कि वे मुझे किसी होटल या धर्मशाला में नहीं, सीधे अपने घर ले आए हैं। मैं शायद कुछ देर असमंजस में वहीं खड़ा रहता, यदि बाहर से हवा का थपेड़ा मुझे धकेल कर भीतर न ले जाता।

कोई चीज है इच्छा? शायद वह आदमी का सबसे बड़ा माया-मोह है। इच्छा जिस लाइन पर चलती है, उससे कितनी दूर छिटक कर हम घिसटते हैं। वह हमें काट जाती

है और हम दो में बँट जाते हैं। मेरा एक हिस्सा घर में पीछे छूट गया था; दूसरा उस शहर में था, पानी और हवा में ठिठुरता हुआ - और शायद तीसरा हिस्सा भी था, जो बेबस-सा खड़ा हमें असंख्य हिस्सों में बँटता हुआ देखता है।

फिर गुस्सा आता है - नपुंसक, बेबस और रुआँसा - जब पता चलता है कि जो हमारे साथ घट रहा है, उस पर हमारी इच्छा का कोई बस नहीं है, जैसे मास्टर साहब मुझे ऊपर ले आए थे, वैसे ही आँधी का झोंका मुझे उनके घर घसीट लाया था, 'अरे, बैठिए... बाहर क्यों खड़े हैं?' उन्होंने पलंग की ओर इशारा किया; वे खुद स्टूल पर बैठे थे और अपने चीकट जूतों के तस्मे खोल रहे थे।

'मैंने आपसे होटल ले जाने के लिए कहा था,' मैंने कुछ खीज कर कहा।

'अरे साहब, इसे होटल ही समझ लीजिए; इस मौसम में कहाँ जाएँगे?' वे हँसने लगे। एकबारगी इच्छा हुई, अपना सामान वहीं छोड़ कर बाहर निकल जाऊँ। उनकी हँसी, लालटेन में हिलता उनका फटीचर कमरा, कीचड़ में लिथड़ी मेरी देह - इनका कोई मतलब था? हाँ, क्यों नहीं, किसी ने मेरे भीतर कहा, तुम यहाँ आए हो, तो तुम्हें अपने पुराने मतलबों की गठरी छोड़नी होगी... और तब सचमुच मैंने अपने पीछे दरवाजा बंद कर दिया। अँधेरा, बारिश, हवा सब पीछे छूट गए और मैं...

मैं भीतर चला गया।

पहली नजर में वह किसी आउटहाउस की धुँधुआती कोठरी जान पड़ती थी - बीच हवा में खुली हुई, जहाँ बादल बिना रोक-टोक के भीतर आते थे, किंतु भीतर का धुआँ बाहर जाने में हिचकिचाता था। कमरे से सटा एक गोदाम था, जहाँ मिट्टी के तेल का स्टोव और कुछ बरतन रखे थे। वही शायद उनकी रसोई थी। कोने में पानी से भरी बाल्टी, लोटा और पटरा रखा था, जिससे पता चलता था, कि शायद वे नहाते भी रसोई में हैं - दीवार में एक चौकोर सुराख खुला था - जिसके पीछे एक छज्जा दिखाई देता था; वहाँ तार पर उन्होंने कपड़े सुखाने के लिए टाँग रखे थे, जो अब बारिश में भीग भी रहे थे।

वे स्टोव जला रहे थे। बार-बार पीछे मुड़ कर मेरी तरफ देखते जाते थे, मानो उन्हें डर हो कि उनकी आँख बचा कर कहीं अचानक लोप न हो जाऊँ, लेकिन अब मैं उनके पलंग में धँस गया था, मैं कोई भारी आदमी नहीं हूँ, किंतु मेरे बैठते ही उनके पलंग की निवाड़ धूल चाटने लगी थी... मैं पलंग पर बैठा हुआ भी फर्श से चिपका हुआ था।

वे चाय के दो गिलास लाए और सामने चटाई पर बैठ गए।

'आप पहली बार यहाँ आए हैं?' उन्होंने पूछा।

'जी।'

'वही तो... मैं आपको देखते ही पहचान गया।'

'कैसे?' मैंने आश्चर्य से उन्हें देखा। चाय के गर्म धुएँ में उनका लंबा पीला चेहरा पहले कहीं देखा हो, याद नहीं आया।

'कोई मुश्किल नहीं; देखते ही पता चल जाता है, कौन यहाँ का है, कौन बाहर का। आप बस से उतर कर बारिश में खड़े हो गए; यहाँ का आदमी होता तो सीधा अपने घर की तरफ भागता।' वे हँसने लगे। दाँत पीले पड़ गए थे, लेकिन गंदे नहीं लगते थे, उनके पीले, मुरझाए चेहरे पर अपनी जगह फिट जान पड़ते थे।

'वैसे इस मौसम में यहाँ बहुत कम टूरिस्ट आते हैं।' उन्होंने मेरी ओर छलछलाती उत्सुकता से देखा, जैसे उनकी बात सुनते ही मैं उन्हें इस अजीब मौसम में आने का कारण बताऊँगा, लेकिन मैं चुप रहा, अपने को रोके रहा। एक बार उनके साथ आने में जो गलती की थी, अब दूसरी बार नहीं दोहराना चाहता था...

'आप कब से यहाँ हैं?' मैंने बात बदलते हुए कहा।

'पाँच साल... नहीं छह साल।' उन्होंने चाय का गिलास नीचे रख दिया और अँगुलियों पर बीते, पुराने साल जोड़ने लगे, 'जिस साल शास्त्री जी का ताशकंद में इंतकाल हुआ, मैं यहीं था; मुझे याद है, मैंने यह दुखदाई खबर अस्पताल में सुनी थी।'

'आप अस्पताल में थे?' मैंने विनम्र-सी सहानुभूति दिखाई।

'जी... वैसे अल्मोड़ा में भी डॉक्टरों की कमी नहीं, लेकिन यहाँ मेरे चाचा डॉक्टर थे; उन्होंने मुझे यहीं अस्पताल में दाखिल करवा दिया। जब ठीक हुआ तो पता चला कि यहाँ हाईस्कूल में एक अंग्रेजी टीचर की जरूरत है, बस फिर यहीं टिक गया,' उन्होंने कुछ मुस्करा कर मेरी ओर देखा, 'बीमारी ठीक कराने आया था, यह नहीं सोचा था कि बेकारी की समस्या भी हल हो जाएगी।'

'आपका घर यहाँ नहीं है?' मैंने पूछा।

'आप इसे घर कहेंगे?' उन्होंने सरसरी निगाह अपने कमरे में डाली, मानो उसे पहली बार देख रहे हों। उस शिकायत-भरी निगाह में कुछ रहा होगा कि रसोई में रखी बाल्टी,

टिमटिमाती लालटेन, चौके पर रखा स्टोव - और मंजी में धँसा मैं - सब कुछ एकाएक दयनीय-से हो गए।

'आपको सर्दी लग रही हो, तो आग जला दूँ?' उन्होंने कहा।

'नहीं, मैं बिल्कुल ठीक हूँ।' मैंने कहा। मैं सचमुच ठीक था, अगर ठीक का मतलब है मंद पड़ जाना, इतना मंद कि थकान भी सिर मार कर पीछे मुड़ जाए। मुझे सिर्फ बाहर की चीजें दिखलाई दे रही थीं, बारिश में भीगती रात और टिपटिपाता उनका घर, और भीतर कुछ भी महसूस नहीं हो रहा था। मेरी इस रूखी उदासीनता को देख कर वे कुछ विचलित-से हो गए, मानो अपने घर ला कर उन्होंने कोई अपराध कर डाला हो।

'यहाँ एक फॉरेस्ट रेस्टहाउस है, अगर आप चाहें...' उन्होंने मेरी ओर देखा।

'वहाँ परमिट की जरूरत पड़ेगी - नहीं?'

'हाँ, यह तो है,' उन्होंने कुछ सोचते हुए कहा, 'लेकिन एक-दो दिन की बात हो, तो चौकीदार हील-हुज्जत नहीं करता... आपको कितने दिन रहना है?'

इस बार उनके स्वर में भेद लेने की उत्सुकता नहीं थी, सिर्फ मेरी मदद करने की इच्छा थी, वे एकटक मेरी ओर देख रहे थे।

उस क्षण शायद मैं उन्हें सब कुछ बता देता - इतनी दूर आने का कारण, वह भी इन सर्दियों में... मेरे बिना बताए भी वे भाँप गए थे कि न मैं कोई तीर्थयात्री हूँ, न सैलानी-टूरिस्ट; फिर कौन हूँ मैं? और तब एक अजीब थकान और हताशा ने मुझे जकड़ लिया; मास्टर जी को यह बताने के लिए, कि मैं वहाँ क्यों आया हूँ, मुझे अपने सारे परिवार का इतिहास बताना होगा - और उसके बाद भी क्या वे मेरे आने का कारण समझ पाएँगे?

पता नहीं, उन्होंने आधे धुँधलके में क्या देखा - मेरा चेहरा या अधेड़ उम्र की बदहवासी - कि आगे कुछ नहीं पूछा; मुझे वहीं छोड़ कर वे बाहर छज्जे पर चले गए और अपने भीगे कपड़ों को समेट कर रसोई में ले आए, और एक-एक करके उन्हें निचोड़ने लगे।

मैंने चैन की साँस ली, उनका ध्यान मेरी ओर से हट गया था, मैंने अपना बिस्तर खोल कर फर्श पर ही बिछा लिया। लालटेन मेरे सिरहाने के पास तिपाई पर रखी थी; उसकी पीली रोशनी में मैंने ब्रीफकेस के कागज बाहर निकाले... मैं उन्हें आखिरी बार देख लेना चाहता था - कुछ वैसे ही, जैसे कोई विद्यार्थी परीक्षा से पहले अपने नोट्स

पलटता है और अचानक सब कुछ व्यर्थ और अर्थहीन जान पड़ता है - जायदाद के बासी, भुरभुरे कागज जिसे बाबू पीछे छोड़ गए और जो इस कोठरी में और भी अधिक विपन्न दिखाई दे रहे थे; उनके बीच बहुत सँभाल कर तीन पत्र रखे थे - बड़े भाई और छोटी बहन की लिखावट को अलग-अलग से पहचानना मुश्किल नहीं था, किंतु तीसरा मुड़ा-तुड़ा कागज? स्टेशन जाने से पहले माँ ने सबकी आँख बचा कर वह मुझे दिया था और मैंने उसे जल्दी बिना देखे, बिना पढ़े अन्य कागजों के बीच फेंक दिया था - माँ की चिट्ठी? वह जो होंठ फड़फड़ाते हुए कागज पर अक्षर चींथा करती थीं, पता नहीं उन्होंने किस भाषा में अपना संदेश भेजा था? मुझे उस समय भी उसे पढ़ने की इच्छा नहीं हुई; लालटेन की टिमटिमाती रोशनी में मृत पिता के कागज उतने ही मृत जान पड़ रहे थे, जितने जीवित लोगों के पत्र; यदि उन सबको मास्टर साहब के स्टोव में झोंक दूँ, तो पल भर में हमारा मकान, घर और गृहस्थी के लोग, मरे और जीवित रिश्तों का लेखा-जोखा एक लपट में भस्म हो जाएगा... सिर्फ एक मैं रह जाऊँगा। मैं और वे - वे जिनसे मैं इतनी दूर यहाँ मिलने आया था...

सहसा मास्टर जी की छाया कागजों पर पड़ी; वे चौके की देहरी पर खड़े थे, हाथ गीले थे और कमीज की आस्तीनें बाजुओं पर चढ़ी थीं।

'लगता है, आप कोई मुकदमा लड़ने आए हैं।' वे मुस्करा रहे थे।

मैंने जल्दी-जल्दी सब कागज समेट कर ब्रीफकेस में ठूँस दिए, शायद वे ठीक कहते हैं, कल पेशी का दिन होगा; दस साल बाद... पागल-सी इच्छा हुई कि अभी घर पर उनसे मिल लूँ और कल सुबह की बस से दिल्ली लौट जाऊँ किंतु मास्टर जी ने मेरे पागलपन को बीच में ही तोड़ दिया, 'चलिए, हाथ-मुँह धो लीजिए... पानी गर्म हो गया है।'

उस रात मैं मास्टर जी के कमरे में ही सोया। मैं अपना होल्डॉल साथ लाया था, इसलिए उन्हें कोई परेशानी नहीं हुई - हालाँकि पलंग को ले कर वे थोड़ा बिफर गए। वे खुद फर्श पर सोना चाहते थे और मुझे पलंग देना चाहते थे; मैं उनसे कैसे कहता कि उनकी मंजी पर डोलते हुए मुझे रात-भर भूकंप का भ्रम होता रहेगा; मुझे डर था कि खाने को ले कर एक और भूकंप खड़ा होगा, मेरी पत्नी ने जो टिफिन बाँधा कर दिया था, वह सिर्फ बस-यात्रा के लिए नहीं, जीवन-यात्रा के लिए काफी था। मैंने उनसे कहा कि खाना बनाने के बजाय मेरे टिफिन को हल्का कर देना बेहतर होगा, ठंडे मौसम के कारण वह इतना ही ताजा था, एक सुदूर गृहस्थी की चिंता में रसा-बसा भोजन, जो बारह घंटे की चढ़ाई के बावजूद अपना शहरी स्वाद पहाड़ों तक खींच लाया था। मेरे खुले टिफिन को देख कर उनके चेहरे पर एक बीहड़-सी वीरानी उमड़ आई - पूरी,

अचार, सब्जी और पुलाव - अलग-अलग कटोरियों में सजे हुए; शायद उन्हें अपनी गलती पर पछतावा भी महसूस हुआ कि मुझ जैसे व्यक्ति पर दया करना कोई बहुत जरूरी नहीं था, किंतु उन्होंने कहा कुछ नहीं, चुपचाप स्टोव जला कर खाना गर्म करने में जुट गए।

उनकी रसोई जितनी साफ-सुथरी थी, कमरा उतना ही अस्त-व्यस्त था; फर्श पर धूल में अँटी किताबों और पुरानी पत्रिकाओं का ढेर लगा था; कोठरी की छत धुएँ की कालिख से पुती हुई थी। दीवार पर एक रंग-उड़ी अलमारी थी, जिसकी अधखुली दराजों से कपड़े बाहर झाँक रहे थे। कमरे में कुछ वैसी ही उजाड़ यतीमी थी, जैसी धर्मशाला के कमरों में होती है। मुझे यह सोच कर कुछ भयावह जान पड़ा कि वे यहाँ दिन-रात, गर्मी-सर्दी में अकेले रहते होंगे; शायद इसी अकेलेपन से बचने के लिए वे मुझे अपने साथ ले आए थे; उन्हें मेरे बारे में कुछ नहीं मालूम था, इस बात पर मुझे उतना आश्चर्य नहीं था, जितना इस पर कि एक बार लाने के बाद उन्होंने मुझसे यह भी नहीं पूछा था कि मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ? तब एक अजीब-सा संदेह मुझे कोंचने लगा, शायद उन्हें सब कुछ मालूम है। तभी तो वह बस स्टैंड पर पानी में भीगते खड़े थे; और मुझे देखते ही मेरे पास लपक आए, लेकिन किसने उन्हें यह बताया होगा? सिवा उनके, जिनसे मैं मिलने आया था; क्या किसी ने पहले से ही तो मास्टर जी को मेरे आने के बारे में सूचना नहीं दे दी थी?

'लीजिए, जल्दी खा लीजिए, नहीं तो एक मिनट में सब ठंडा हो जाएगा।'

उन्होंने मेरे टिफिन का खाना थाली में परोस कर सामने रख दिया।

'आप नहीं खाएँगे?'

'मैं तो खाने के बाद ही बाहर निकल जाता हूँ; जब तक कुछ देर टहल नहीं लेता, ठीक से नींद नहीं आती... आप खाइए।'

वे मेरे सामने चटाई पर बैठ गए; अकेले खाते हुए मुझे कुछ अजीब-सी वीरानी ने पकड़ लिया; पता नहीं, वे इस घड़ी क्या कर रहे होंगे; पत्नी शायद नीचे माँ के पास होगी और बच्चे अपने कमरों में स्कूल का काम कर रहे होंगे... मास्टर जी की जर्जर कोठरी और धुँधुआती रोशनी में मुझे अपने घर के लोग किसी दूसरे ग्रह के प्राणी जान पड़ते थे, यह विश्वास करना असंभव था कि अभी बारह घंटे पहले मैं उनके साथ था...

'देखिए, पानी रुक गया; कल सुबह तक सब साफ हो जाएगा।' मास्टर जी के स्वर में बच्चों का उल्लास छलक आया।

मेरे हाथ ठिठक गए; टीन की ढलुआँ छत से पानी की धार नीचे गिर रही थी, किंतु बारिश सचमुच थम गई; छज्जे के बाहर धुंध अब भी थी, लेकिन इतनी हल्की और इकहरी - कि उसके पीछे धुले हुए तारे चमचमा रहे थे।

'आपका स्कूल कहीं पास में है?' मैंने पूछा।

'मैं आपको बताना भूल गया। आप दरअसल स्कूल में ही बैठे हैं।' वे मुस्कराने लगे।

'यह स्कूल है?' मैंने विस्मय से चारों ओर देखा।

'जी, यह स्कूल का ही हिस्सा है। मुझे अभी तक मकान नहीं मिला; इसीलिए उन्होंने स्कूल का एक कमरा मुझे दे दिया; वैसे भी छुट्टियों में सारे कमरे खाली पड़े रहते हैं...'

'आप छुट्टियों में कहीं नहीं जाते?'

'एक-आध दिन के लिए अल्मोड़ा उतर जाता हूँ लेकिन वहाँ मेरा मन घुटता है; वही पुराने लोग आ घेरते हैं, जिनसे मैं बचना चाहता हूँ।'

'यहाँ अकेला नहीं लगता?'

वे कुछ देर चुप रहे, फिर कुछ सोचते हुए कहा, 'यहाँ अकेला रहता हूँ तो भी वैसी ऊब नहीं होती जैसी अल्मोड़े में - फिर जब मन करता है, तो बाबा के पास जा बैठता हूँ।'

'बाबा कौन?'

उन्होंने मेरी ओर देखा, अपनी टोहती आँखों से, फिर एक छोटी-सी मुस्कराहट उनके चेहरे पर फैल गई, 'एक ही तो हैं, और कौन!'

इस बार मैं अपने को नहीं रोक पाया, 'क्या उन्होंने आपसे कुछ कहा था?'

उन्होंने विस्मय से मुझे देखा, 'किस बारे में?'

'मेरे यहाँ आने के...'

'क्यों? आप उनसे मिलने आए हैं?' इस बार उनकी आँखों में विस्मय था।

'सुना है, बहुत दूर-दूर से लोग उनके दर्शन करने आते हैं।' मैंने कहा।

'हाँ... लेकिन इस मौसम में?' वे फैली आँखों से मुझे निहार रहे थे।

'मैं यहाँ छुट्टी पर आया था; सोचा, उनके दर्शन भी कर लूँ। क्या बहुत दूर रहते हैं?'

वे कुछ सोचते हुए चुप बैठे रहे, फिर अनमने भाव से बोले, 'ज्यादा दूर नहीं... एक-डेढ़ कि.मी. की चढ़ाई होगी।'

मुझे लगा, वे मुझसे कुछ नाराज हैं; शायद उन्होंने मुझ पर विश्वास भी नहीं किया; कौन ऐसा पागल है जो सर्दियों में अपना घर-बार छोड़ कर इतनी दूर आता है - और वह भी एक अज्ञात पहाड़ी शहर के लोकल महात्मा से मिलने?

वे उठ खड़े हुए और मेरे बरतन बटोरने लगे। कुछ देर तक रसोई में लोटे-बाल्टी की खनखनाहट के अलावा कुछ सुनाई नहीं दिया।

फिर उस रात उनके बारे में कोई चर्चा नहीं हुई।

सोने की तैयारी भी चुपचाप हुई; उन्होंने दोबारा और अंतिम बार जरूर आग्रह किया कि मैं उनके पलंग पर सो जाऊँ, लेकिन मैं पहले से फर्श पर अपना होल्डॉल बिछा चुका था और फिर वे चुप ही रहे, सिर्फ इतना पूछा कि क्या वे लालटेन जला कर पढ़ सकते हैं और वे देर तक कोई अंग्रेजी का उपन्यास पढ़ते रहे, जिसके लेखक का नाम मैंने कहीं पढ़ा-सुना नहीं था।

मैं ब्रीफकेस को सिरहाने रख कर लेट गया, लेकिन नींद देर तक नहीं आई। इतनी लंबी जिंदगी में यह पहला मौका था कि किसी अजनबी के घर मैंने रात काटी हो, और वह सचमुच रात को 'काटना' था, जहाँ एक तरफ मैं था, दूसरी तरफ मेरा घर-बार, नौकरी, गृहस्थी, जिसे मैं पहली बार छोड़ कर अकेला बाहर आया था। मेरी पत्नी को पता चलता कि घर छोड़ते ही मैं पहला पड़ाव किसी स्कूल-मास्टर की कोठरी में डालूँगा, तो उसे सचमुच हैरानी होती; वह मुझे हमेशा घर-घीसू कहती थी और उसे हमेशा यही सदमा सताता था कि इतनी लंबी विवाहित जिंदगी में मैं कहीं उसके साथ यात्रा पर नहीं गया; कामचलाऊ सफर बहुत किए, किंतु छुट्टी ले कर किसी तीर्थस्थान या पहाड़ी स्टेशन जाना नहीं हुआ।

और अब यह जगह? पहाड़, लेकिन हिल-स्टेशन नहीं और तीर्थस्थान के नाम पर पशुओं का अस्पताल; एक शिव का मंदिर, जहाँ वह रहते थे... क्यों-अब भी रहते हैं।

मुझे अजीब-सा लगा कि दिल्ली की आदत अब भी मेरे साथ चिपकी थी, जहाँ सब लोग उन्हें 'अतीत' में याद करते थे। ज्योंही कोई व्यक्ति हमें छोड़ कर चला जाता है, हम उसे 'अतीत' में फेंक कर बदला चुका लेते हैं, बिना यह जाने कि वह अब भी मौजूद है, जीवित है, अपने वर्तमान में जी रहा है, लेकिन हमारे समय से बाहर है।

उस रात मुझे देर तक नींद नहीं आई। हवा के थपेड़ों से कोठरी की छत और दीवारें थरथराने लगती थीं, नीचे मोटर-रोड पर कोई बस या लारी गुजरती, तो उसकी हेडलाइट्स में फँसे पेड़ और झाड़ियाँ दीवार पर सरकते हुए निकल जाते। पहियों की घुरघुराहट देर तक पहाड़ियों के बीच गूँजती रहती। कभी किसी बस के गुजरने के बाद मास्टर साहब किताब से सिर उठा कर घड़ी को देखते और लंबी साँस खींच कर कहते, 'यह भुवाली की बस है,' या कुछ देर बाद जब दोबारा बस की पों-पों बजती, तो कहते, 'यह रामनगर जा रही है।' मैं आँखें मूँदे सोने का बहाना किए पड़ा रहा, फिर न जाने कब यह बहाना किसी नींद के सपने में उलझ कर दूर तक घिसटता गया। आधी रात को आँख खुली, तो लालटेन बुझ गई थी और मास्टर साहब करवट ले कर सो रहे थे; समूची कोठरी में अँधेरा था; एक लंबे क्षण तक मुझे याद नहीं आया कि पास पलंग पर कौन सो रहा है और मैं वहाँ क्या कर रहा हूँ?

सुबह उठा तो धूप का चकत्ता बिस्तर पर बैठा था। ठंडी, धुली हुई रोशनी कोठरी में फैली थी। मास्टर जी की मंजी खाली पड़ी थी - रसोई में पानी की बाल्टी और लोटा रखे थे। चूल्हे के पास चाय का सामान था; बाहर हवा में थपथपाती खट-खट की आवाज आ रही थी - शायद उसकी आवाज सुन कर ही मैं जाग गया था।

घड़ी देखी, तो अचरज हुआ - दस बजे थे; शायद ही कभी मैं इतनी देर तक सोता हूँ। जल्दी-जल्दी हाथ-मुँह धोया; थर्मस और गिलास थैले में रखे, ब्रीफकेस को खोल कर चिट्ठियाँ बाहर निकालीं, जिनमें पोस्टकार्ड भी था, जो उन्होंने पंद्रह दिन पहले भेजा था; उन सबको समेट कर कोट की अंदरूनी जेब में रखा। मास्टर जी को देखने बाहर आया तो आँखें जिस चीज पर पड़ीं, वह पहाड़ था।

पहली बार ज्ञान हुआ कि यह पहाड़ है; सड़क पर चलता पहाड़ नहीं, जो कल बस की खिड़की से देखा था - लेकिन एक जगह ठहरा हुआ, बाजार के ऊपर, शहर को छाँह देता हुआ; कल अँधेरे और बारिश में उसे नहीं देखा था। अब पहली बार विश्वास हुआ कि मैं घर के बाहर हूँ; यह महज यात्रा का स्टेशन नहीं, पूरी जगह है; एक अलग-थलग दुनिया, वह एकांत जंगल नहीं था, जैसा मैं दिल्ली में सोचा करता था, वह एक पूरी बस्ती थी; जहाँ बाजार था, बस का स्टेशन, अस्पताल, एक मंदिर, एक स्कूल...

स्कूल मैदान में था, बाजार के ऊपर और नीचे पेड़ों का पीला झुरमुट था। और वहीं टहनियों के बीच अकस्मात दिखाई दिए मास्टर जी... और तब मुझे उस खट-खट का रहस्य समझ में आया; वह कुल्हाड़ी से पेड़ों की शाखें काटते जाते थे और टहनियाँ छपाछप करती हुई नीचे गिर जाती थीं...

मैं उसी पगडंडी से नीचे उतरने लगा, जिसके सहारे कल ऊपर चढ़ा था। धीरे-धीरे बाजार की छतें दिखाई देने लगीं, साँवले, सलेटी पत्थरों से ढकी धूप में चमचमाती हुई; लोगों का शोर और दुकानों का धुआँ एक साथ ऊपर उठ रहे थे। बाजार के नाम पर कुछ भिनभिनाते ढाबे थे; वहीं मैं एक बेंच पर खुली हवा में बैठ गया; धूप सिर्फ माया थी, असली ब्रह्म सर्दी में व्याप रहा था; मैंने एक चाय माँगी, तो दूसरी बेंच पर दो आँखें ऊपर उठीं, केसर-सी लाल और मस्ती में धुत्त... साह जी, बस एक ही?'

नंग-धड़ंग महात्मा मेरी ओर निहार रहे थे।

मैंने दूसरी चाय मँगवाई, तो वे मुस्कराए, दाँतों के बीच लाल मसूढ़े दाढ़ की कटी फाँक से खुल गए।

'कल ही पधारे हो?'

'जी।'

अब तक वह दूसरे ढाबे की बेंच पर बैठे थे, मेरे 'जी' कहते ही वह अपनी मेज का मोह त्याग कर मेरी बेंच पर आ विराजे, 'क्यों, हमारे मास्टर के यहाँ ठहरे हो?'

वे अंतर्यामी जान पड़े, मुझे लगा, उनके सामने 'जी' कहने के अलावा मैं और कुछ नहीं कह सकूँगा। उसके बाद अगर वे यह बताते कि मैं दो बच्चों का बाप हूँ और दिल्ली से आया हूँ तो भी मुझे कोई आश्चर्य नहीं होता। किंतु उसके बाद वे एकदम चुप्पी साध गए; चाय पीने में ऐसे मगन हो गए जैसे सिर्फ उसी को पाने के लिए उन्होंने परिचय बाँधा था।

'आप कहाँ से आ रहे हैं?' कुछ देर बाद मैंने ही पूछा।

चाय के गिलास को बेंच पर रख कर उन्होंने कुहनी से अपनी दाढ़ी पोंछी।

'यह पूछिए, कहाँ जा रहा हूँ, यहाँ तो सिर्फ कुछ दिनों के लिए ठहरा हूँ।' उनकी सुर्ख आँखों में एक रूखी-सी लापरवाही झलक आई।

'कहाँ डेरा लगाया है बाबा ने?'

उन्होंने अँगुली से ऊपर इशारा किया; पहले मैं 'ऊपर' का मतलब ईश्वर समझा, लेकिन सौभाग्य से उनकी अँगुली ईश्वर से कुछ नीचे बैठी, बाजार के पीछे पहाड़ी गोमड़ पर, जो धुंध और धूप के झिलमिले से बाहर निकल रहा था।

'शिव के मंदिर में?' पहली बार मेरे भीतर एक जिज्ञासु उत्सुकता जागी।

'शिव नहीं, महाकाल का मंदिर कहिए,' उन्होंने हल्की हिकारत से मुझे देखा, 'कभी वहाँ नहीं गए?'

'मैं पहली बार आया हूँ।'

'पहली बार?' वे हँस पड़े, 'आपको कैसे मालूम, आप पहली बार आ रहे हैं... पहली बार कुछ नहीं होता...'

'मैंने आपको भी पहली बार देखा है।' मैंने कहा।

'सचमुच?' उन्होंने मेरी ओर देखा, 'और इसको,' उन्होंने पाइन की ओर इशारा किया जो सड़क के किनारे नीचे खड्ड से ऊपर उठा था, हवा में डोल रहा था।

'पेड़?' मैंने जिज्ञासा से उन्हें देखा, 'इसमें क्या है?'

'और मैं?' उन्होंने लँगोट से बीड़ी निकाली और भट्ठी के सुलगते हुए कोयले पर उसे लगा दिया, 'मुझमें क्या है?'

बीड़ी सुलग रही थी और धुएँ की तीखी लट ऊपर उठ रही थी।

मैंने उनकी नंगी देह को देखा, एक-एक हड्डी सर्दी की सफेद धूप में चमक रही थी, ठिठुरती, कृशकाय देह नहीं, बल्कि ऐसा पिंजर जो देह को अपनी ठठरी-गठरी में गरमाए रखता है... नहीं, मैंने उन्हें पहले नहीं देखा था, लेकिन उन्हें देखते हुए मुझे अचानक अपने पिता की अस्थियाँ याद हो आईं, जिन्हें गठरी में बाँध कर मैं दिल्ली से कनखल ले गया था - जैसे अगर रेल की खड़खड़ाहट में उनकी अस्थियाँ जुड़ जातीं, तो वे सामनेवाली देह की तरह एक बार फिर उठ कर खड़ी होती... और तब मुझे लगा, चेहरा पहले न भी देखा हो, किसी का होना उसकी याद दिला सकता है, जो पहले कभी जीवित था और अब नहीं है।

'घूमने आए हो?' उनकी तरेरती आँखें मुझ पर टिकी थीं। मुझे चुप देख कर वे कुछ आगे सरक आए, 'बाबा के दर्शन करने आए हो - क्यों, ठीक कहा?'

'जी?' मैंने उनकी ओर देखा।

'रास्ता मालूम है?' उन्होंने पूछा। इस बार उनके स्वर में न खीज थी, न चिड़चिड़ाहट, सिर्फ एक मुलायम-सी नम्रता थी।

'मंदिर के रास्ते पर है,' उन्होंने कहा, 'सीढ़ियाँ छोड़ कर पगडंडी पकड़ लेना; सीधी वहीं जाती है।'

'इस समय दर्शन देंगे?' मैंने पूछा।

'देख आओ, अगर बाहर बैठे हुए तो दर्शन होंगे ही लेकिन भीतर हुए तो रहने देना... आजकल थोड़ा बीमार चलते हैं।'

'बीमारी कैसी?'

मेरे स्वर में कुछ रहा होगा कि वे झुँझला उठे। अधबुझी बीड़ी को फेंक दिया, 'बीमारी क्या, अंदर की अवस्था है, बनती-बिगड़ती रहती है।'

उनके स्वर में कुछ ऐसा नहीं था, जो मुझे चिंतित करता; किंतु थोड़ी-सी हैरानी जरूर हुई; अपनी चिट्ठी में उन्होंने बीमारी के बारे में एक शब्द भी नहीं लिखा था; क्या उन्हें डर था कि मैं अपने साथ माँ को घसीट लाऊँगा; मुझे उनके डर पर हँसी आने लगी... वे जो घर की सीढ़ियाँ नहीं चढ़ सकतीं, बस में धक्के खाते हुए **2100** कि.मी. ऊँचाई पर आएँगी?

उसके बाद मैंने उनसे कुछ नहीं पूछा। बेंच से उठ खड़ा हुआ; अघोर बाबा ने कुछ आश्चर्य से मुझे देखा, 'क्या अभी जा रहे हो?'

'जी... ऊपर पहुँचने में कितनी देर लगेगी?'

'पूरी उम्र!' वे हँसने लगे, 'लेकिन तुम भटके नहीं तो आधे घंटे में पहुँच जाओगे!'

मैंने दुकान से अपने थर्मस में पानी भरवाया। जब चाय के पैसे देने के लिए बटुआ निकाला तो सहसा उनकी आवाज सुनाई दी, 'तीन गिलासों के, मैं एक और लूँगा।' मैंने पीछे मुड़ कर भी नहीं देखा, पैसे दिए और ऊपर चढ़ने लगा।

चढ़ाई खड़ी हथेली की तरह उठी थी; चारों तरफ जंगल थे, लेकिन सड़क पर एक पेड़ नहीं जो छाया दे सके। पहाड़ी पसीना परनालों की तरह देह पर बह सकता है, ऐसा कभी सोचा भी न था। मुझे अपने ब्लडप्रेशर का डर था और दिल की धुकधुकी अलग से छाती को खटखटा रही थी।

बाजार बहुत नीचे छूट गया था, लेकिन उसकी आवाजें और बसों के हॉर्न अब भी एक उनींदी गुनगुनाहट की तरह सुनाई दे जाते थे। कुछ देर बाद वे आवाजें भी गुम हो गईं... और मुझे लगा जैसे वहाँ मेरे अलावा कोई नहीं है - न जानवर, न हवा, न आदमी। अगर मैं कई कि.मी. इसी तरह चलता जाऊँ तो न मैं खत्म होऊँगा, न रास्ता खत्म होगा। मैं इसी तरह ऊपर चढ़ता रहूँगा पसीने में नहाया हुआ, न कुछ देखता हुआ, न सोचता हुआ - लेकिन तभी पाँव ठिठक गए, जैसे मुझसे कह रहे हों, अगर तुम निढाल हो तो हमें कोई परवाह नहीं।

आगे एक तिराहा था, उठी हुई हथेली पर तीन अँगुलियों की तरह खुला हुआ; दाईं पगडंडी पर काला बोर्ड दिखाई दिया, जिस पर सफेद खड़िया से एक तीर बना था और तीर की नोक से बिंधे चार अक्षर मेरी तरफ ताक रहे थे - टु द फॉरेस्ट रेस्ट हाउस। और तब मुझे अघोरी बाबा की अँगुली याद आई - ईश्वर की तरफ उठी हुई, जहाँ महाकाल का मंदिर था, अगर नीचे की पगडंडी फॉरेस्ट हाउस की तरफ जाती है, तो बीच की सड़क जरूर मंदिर की ओर चढ़ती होगी... मैंने वही बीच का रास्ता पकड़ लिया। वह रास्ता भी नहीं था, सिर्फ एक उठान थी।

शायद बहुत पहले वहाँ सीढ़ियाँ रही होंगी, लेकिन अब वहाँ सिर्फ पत्थर थे, काई और घास में लिथड़े हुए, उन पर पाँव रखते ही जूते फिसलने लगते। हर पत्थर पर साँस अटकने लगती, एक रस्सी की तरह मेरे पैरों को ऊपर खींचती और जब मैं दूसरा कदम उठाता तो लगता जैसे मैं अपने पीछे सारी उम्र का बोझ घसीट रहा हूँ। लेकिन वह बोझ उसके सामने कुछ भी नहीं था, जो मैं लाद कर अपने साथ लाया था - घर के कागज और घरवालों के संदेशे। उन्हें ढोता हुआ मैं खुद अपनी यात्रा का लदा-फदा संदेशा जान पड़ता था, मुझे तब एक अजीब-सा खयाल आया, अगर उन तक संदेश पहुँचाना है तो मेरा जाना क्यों जरूरी है? मैं यदि सारे कागज-पत्तर, चिट्ठी-संदेशे मास्टर साहब को सौंप कर शाम की बस से लौट जाऊँ, तो कोई भी अंतर नहीं पड़ेगा। वे उन्हें सुरक्षित उनके पास पहुँचा देंगे - फिर वे जैसा चाहें, करें। लेकिन इतने पास पहुँच कर ऐसे ही रूखे-सूखे लौट जाना? वे दस साल से यहाँ रह रहे हैं और मैं पहले ही दिन इतना हताश हो गया? वे भी तो पहले दिन ऐसे ही ऊपर चढ़े होंगे, लेकिन उनकी उम्र तब काफी कम रही होगी, मुझे अब भी उनकी फोटो याद है, जो पिताजी ने (तब वे जीवित थे)

अखबारों में दिया था - एक हँसता हुआ चेहरा, जिसे अंग्रेजी में चियरफुल कहा जाता है... और फोटो के नीचे बाबू के हाथ का लिखा टेक्स्ट - 'प्लीज, कम...' लेकिन न वे आए, न अपना पता भेजा और तब स्टेशन और अस्पतालों के चक्कर शुरू हुए... पुलिस के साथ मार्चुअरी में जाते मुर्दों की कतार में उन्हें पहचानने की कोशिश करते, जो एक दिन सहसा पहचान के परे चले गए थे...

अचानक, बीच रास्ते में मैं ठिठक गया। क्या अब मैं उन्हें पहचान सकूँगा?

सिर का पसीना माथे पर बहता हुआ आँखों पर चिर-चिर चूने लगा, वह जैसे पानी का पर्दा था, जिसके पीछे सारा जंगल झिलमिला रहा था। आखिर वह मंदिर दिखाई दिया - सफेद और शीतल - और उसकी शीतलता मेरी थकान को सींचने लगी। हवा में पसीना सूखने लगा - मैं वहीं, सीढ़ियों पर बैठ गया। आसपास बिल्कुल सन्नाटा था - न कोई भक्त, न पुजारी, न कोई साधु-संन्यासी-सिर्फ मंदिर की बगल में बांज के डोलते बाजू पर एक लंगूर बैठा था, अपनी मीटर-भर लंबी पूँछ को हिलाता हुआ, उसने एक क्षण मेरी ओर घूरा और फिर छपाक से मंदिर की छत पर कूद गया। एक छपाक और, पेड़ की झर-झर और कुछ भी नहीं, जंगल की अथाह नीरवता में जैसे मैं और वह लंगूर एक साथ उस महाकाल के शरणार्थी हों, कभी-कभी जानवर देवताओं की तरह अचानक हमारी दुनिया में प्रकट हो कर हमारी सब दुविधाओं को झाड़ देते हैं - उस लंगूर ने भी जैसे अपनी पूँछ से मेरे सब संशयों को बुहार दिया - और जब मैं आगे बढ़ा, तो सहसा मेरे पैर हल्के हो गए थे।

उसके बाद ज्यादा नहीं चलना पड़ा, चढ़ाई खत्म हो गई थी और पेड़ों के बीच एक साफ-सुथरी, समतल पगडंडी चलने लगी थी। आगे-पीछे चीड़ों का हरा समंदर लहरें खाता था - झर-झर सुइयाँ नीचे गिरती थीं, और एक खुश्क, नशीली गंध ऊपर उठती थी। अघोरी बाबा की बात सच निकली, सौ मीटर चलने के बाद मैं एक खुली, सपाट जगह पर चला आया जो घने जंगल में अचानक खुल जाती है - एक खुला, खाली-सा आँगन - जहाँ सिर्फ घास और पत्थर थे; मैं कुछ आगे बढ़ा ही था कि बाईं तरफ एक चट्टान दिखाई दी... किंतु दूसरे क्षण ही अपनी गलती पता चली और मेरे पाँव अपने-आप ठिठक गए।

वह चट्टान नहीं, एक पथरीला ठठ्ठर था, जिसकी ढलुआँ छत नीचे झुकी थी, एक गुफा की तरह, जिसका ऊपरी खंड पहाड़ी से चिपका था और निचला हिस्सा धरती में धँसा था, बीच में तीन पत्थर एक-दूसरे के ऊपर रखे थे, ऊपर काठ का दरवाजा था। एक चित्र-पहेली की तरह पहली नजर में जो चट्टान जान पड़ी थी - अब वह एक

कोठरी दिखाई दे रही थी; काठ, मिट्टी और पत्थर की इमारत, जिसे देख कर पता नहीं चलता था कि उसका कौन-सा हिस्सा आदमी ने बनाया है और कितना सिर्फ प्रकृति का अंग है... क्या यह संभव है कि वहाँ कोई रहता होगा?

मैं पास आया, सफेद पत्थरों की सीढ़ियों पर चढ़ता हुआ दरवाजे के आगे ठहर गया, लकड़ी के दो पल्लों पर खुली साँकल लटक रही थी, भीतर कोई आहट, कोई हलचल नहीं थी, दरवाजे के भीतर सँकरे सुराख से मैंने भीतर झाँका - पहले क्षण कुछ भी दिखाई नहीं दिया, अँधेरे पर सिर्फ एक सफेद झाईं-सी गिर रही थी, वह कहीं बाहर से आ रही थी - लेकिन भीतर कोई खिड़की दिखाई नहीं दी और तब मुझे पता चला कि जिस सुराख से मैं झाँक रहा हूँ, वहीं से रोशनी भी आ रही है - धूप का मैला धब्बा - जिसे सूरज वहाँ फेंक गया था और फिर उठाना भूल गया था...

वे शायद सो रहे थे, या सिर्फ बीमार थे और कहीं नीचे लेटे थे; संभव है, उन्हें मेरी चिट्ठी भी न मिली हो; उन्हें शायद यह भी नहीं मालूम कि मैं यहाँ हूँ। वे शायद कल शाम से मेरी प्रतीक्षा कर रहे हों और अब सोच लिया हो कि किसी कारण मेरा आना टल गया... यह सोचना था कि मेरा हाथ साँकल पर चला गया - गर्म काठ के दरवाजे पर साँकल हिल रही थी, मेरे अनजाने छूने से या भीतर दरवाजे के खुलने से, यह सोचना भी व्यर्थ था, क्योंकि दूसरे क्षण ही फटाक से दरवाजा खुल गया - वे खड़े थे मुझसे बहुत ऊपर और मैं एक सीढ़ी नीचे उतर आया, जैसे आखिरी क्षण मैं उनसे बचना चाहता था, लेकिन यह भी संभव है कि डर की जगह केवल उत्सुकता थी, जो मुझे एक सीढ़ी नीचे घसीट लाई थी, ताकि मैं उन्हें पूरा देख सकूँ जैसे कुछ पीछे हट कर दीवार पर टँगी तस्वीर को पूरा-का-पूरा देखना चाहता हूँ। लेकिन इस बीच उन्होंने मेरे हाथ को पकड़ लिया और मुझे लगा, वे मुझे ऊपर खींच रहे हों, जबकि मैं नीचे जा रहा था और इस खींचतान में मेरा ब्रीफकेस हाथ से छूट गया, सीढ़ियों पर लुढ़कता हुआ ठक से नीचे आ गिरा, और गिरते ही उसने एक हिचकी में अपने भीतर के बोझ को बाहर उगल दिया। कागज, चिट्ठियाँ, मकान के दस्तावेज : सब एक-एक करके बाहर निकल आए और हवा में उड़ने लगे। शर्म में बौखलाया अपने को कोसता हुआ मैं सीढ़ी पर ही बैठ गया और जल्दी-जल्दी उन्हें बीनने लगा। वे भी मेरे साथ नीचे बैठ गए थे और कागजों को चुन-चुन कर मुझे दे रहे थे और मैं जल्दी-जल्दी उन्हें ब्रीफकेस में ठूँस रहा था, बिना कुछ देखे, मैली-सी बदहवासी में, जबकि उन्होंने अपना हाथ मेरे उठे हुए घुटने पर रख दिया, जो पता नहीं कब से काँप रहा था।

सहसा मैंने देखा; उनका चेहरा नहीं, सिर्फ उनके हाथ, दस वर्ष बाद पहली बार उनके हाथ दिखाई दिए।

कितनी देर हम ऐसे बैठे रहे? धीरे-धीरे सिर उठाया, तो वे दिखाई दिए! वही चेहरा - मुझे निहारती आँखें - मैं यह भी भूल गया कि उन्हें दाढ़ी में पहले कभी नहीं देखा था; सफेद-काली छितरी हुई लटों में वे संन्यासी और भाई के बीच कोई पहचाने-से अजनबी जान पड़ते थे।

लेकिन घुटने पर रखा उनका हाथ? उसमें बीता हुआ घर था, और समूचा जमा हुआ अतीत - जो जरा-सा छूने पर बूँद-बूँद बहने लगता है।

वे थोड़ा-सा नीचे झुके, सीढ़ी पर रखे ब्रीफकेस को उठा लिया, 'आओ, भीतर बैठेंगे!'

मैं उनके पीछे कोठरी के भीतर चला आया।

'बैठो,' उन्होंने धीरे से मेरे कंधे को छुआ। मैंने असमंजस में उन्हें देखा।

'इधर,' उन्होंने दरी की ओर इशारा किया और स्वयं दीवार के सहारे बैठ गए। कुछ मिनट इसी तरह बीत गए, वे मेरे सामने थे, मैं उनकी कुटिया में था, इन सबके रहते भी मुझे विश्वास नहीं हो रहा था कि मेरी यात्रा का अंत आ पहुँचा है।

'आपको मेरा कार्ड मिल गया था?'

'हाँ, लेकिन तुम्हें तो कल आना था।'

'मैं कल ही आया था - बस तीन घंटे लेट थी।'

'कहाँ ठहरे हो?'

'मास्टर जी के यहाँ, वे ही मुझे अपने साथ घर ले आए।'

इच्छा हुई, उनसे पूछूँ, क्या उन्होंने ही मास्टर जी को बस-स्टेशन पर भेजा था; लेकिन उनके नीरव, निर्व्यक्त चेहरे को देख कर चुप रह गया। उनके आसपास एक घेरा था; मैं उतना ही पास आ सकता था, जितना वे आने देते थे - कुछ देर पहले देहरी पर उनकी छुअन से जो कुछ भीतर पिघला था, वह सिर्फ एक सतह थी - नीचे की सारी परतें सूखी पड़ी थीं। शायद इस सूखे से बचने के लिए ही उन्होंने मौन तोड़ा।

'यहाँ आने में कोई मुश्किल तो नहीं पड़ी?'

'नहीं... सीधा चला आया, बाजार में चाय पीने बैठा, तो एक बाबा मिल गए... उन्होंने सब कुछ बता दिया।'

'सब कुछ?' उनके चेहरे पर हल्की-सी जिज्ञासा चमक आई, 'और क्या कहते थे?'

'कुछ और नहीं...' मैंने एक क्षण उनकी ओर देखा, 'क्या आप इन दिनों कुछ बीमार रहते हैं?'

'उन्होंने बताया होगा? कुछ खास नहीं... वही पुरानी साँस की तकलीफ है, इन दिनों कुछ ज्यादा बढ़ जाती है।' उन्होंने कुछ ऐसे कहा, जैसे बीमारी का कष्ट कुछ भी हो, उसके बारे में बताना ज्यादा कष्टमय हो।

'इतनी ऊँचाई पर रहने के कारण तो नहीं है?'

उन्होंने सिर हिलाया, 'तुम्हें याद होगा, जब घर में था, तब भी बराबर रहती थी।'

घर का नाम पहली बार आया था। हमारे बीच आ कर चुपचाप बैठ गया था। कुछ देर उनकी आँखें मिची रहीं, बाहर एक तिनका भी गिरता तो उसकी आहट भीतर सुनाई दे जाती थी।

'सब वहाँ ठीक है?' एक रूखी साँस में उनका स्वर निकला, घर को न छूता हुआ, फिर भी आसपास मँडराता हुआ...

'जी हाँ,' मैंने कहा।

'अब तो नीचे की मंजिल खाली होगी?'

'क्यों, खाली कैसे?' मैं तुरंत उनका मतलब नहीं समझ सका, 'माँ रहती हैं।' वे कुछ देर हैरत से मुझे देखते रहे।

'अकेले ही?' उन्होंने कहा।

'जी।'

'वे ऊपर तुम्हारे पास नहीं रहतीं?'

'जी नहीं... वे नीचे ही रहती हैं?'

वे मेरी तरफ इस तरह देखने लगे, जैसे पिछले दस साल में जो गुजरा - बदला है, वे उसे नहीं जानते... हालाँकि मैंने चिट्ठी में उन्हें सब कुछ लिख दिया था। किंतु उन्होंने अपनी आँखों से कुछ नहीं देखा था, और मैं जो सब कुछ जानता था, पहली बार उनकी

नजरों से अपने घर को देखने लगा और तब मुझे उनका आश्चर्य समझ में आने लगा - जिस औरत के तीन लड़के हों, वह मकान के अलग, अकेले कोने में पड़ी रहे, एक अजनबी के लिए इससे ज्यादा आश्चर्य की बात क्या हो सकती है?

बाहर पेड़ों के बीच झनझनाहट हुई, कोई छत पर कूदा और खटाखट दौड़ता चला गया, फर्श पर मिट्टी झरने लगी। वे उठ खड़े हुए और दरवाजे के बाहर चले गए। कुछ देर में उनकी आवाज सुनाई दी - एक बार, दो बार - पहाड़ी सन्नाटे में वह ऊपर उठती थी और फिर अपनी ही गूँज को सहलाती-सी गुम हो जाती थी।

वे भीतर आए तो मैंने पूछा, 'कौन था?'

'लंगूर,' वे मुस्करा रहे थे, 'मंदिर से उतर कर यहाँ धूप सेंकने आते हैं... तुम अभी मंदिर तो नहीं गए?'

'नहीं... सुना है, बहुत पुराना है?'

'मंदिर तो बहुत पुराना नहीं है किंतु उसमें रखी शिव की मूर्ति को काफी पुराना माना जाता है। वह यहीं पहाड़ी पर जमीन में धँसी हुई मिली थी। अब तुम यहाँ हो तो, किसी दिन देखने चलेंगे। चाय पियोगे?'

'आप बनाएँगे?'

'और कौन?' वे हँसने लगे, 'अभी बन जाती है।' वे पर्दा उठा कर नीचे चले गए, नीचे शायद एक दूसरी कोठरी थी, जिसे मैंने सिर्फ बाहर से देखा था; बाहर से जो चट्टान दिखाई देती थी, उसे ही दो हिस्सों में काट दिया गया था; ऊपर की कोठरी में शायद उनके मेहमान बैठते होंगे, वहाँ सिर्फ दो चटाइयाँ एक दरी और एक आसन के अलावा कुछ भी नहीं था - कोठरी आधी से ज्यादा नंगी दिखाई देती थी, चौकी के पास ही एक सुराही और पीतल के दो गिलास रखे थे - साफ-सुथरे, धुले हुए, खिड़की के नाम पर दीवार में एक खोखल था - जिसके बाहर पेड़ की कुछ शाखाएँ दिखाई देती थीं... उसके परे पहाड़ी का एक भूरा खंड और आकाश दिखाई देता - और कुछ भी नहीं। सिर्फ सन्नाटा सुनाई देता था - और कभी-कभी हवा की सरसराहट, एक अजीब विचार आया कि वे बारह महीने इस अकेली कोठरी में रहते होंगे, दिन, रात, सर्दी, गर्मी - बिल्कुल अकेले। लेकिन वह महज विचार था, उसकी नंगी वास्तविकता नहीं, जब हम किसी मृत व्यक्ति को देखते हैं, तो मृत्यु के बारे में सोचते हैं, या व्यक्ति के, किंतु स्वयं मृत व्यक्ति की वास्तविकता के बारे में एक साथ नहीं सोच पाते... किंतु मृत्यु

क्यों? वे जीवित थे... मैं उनकी कोठरी में बैठा था, हालाँकि मुझे अब तक भरोसा नहीं हो पाया था कि क्या ये वही आदमी थे, जिनसे मिलने मैं आया था?

पर्दा हिला और वे भीतर आए। उनके हाथ में ताँबे की थाली थी, जिस पर चाय के दो गिलास थे। एक तश्तरी में कुछ नमकीन शकरपारे रखे थे।

'इस तरफ बैठ जाओ, दरवाजे से हवा आती होगी।' उन्होंने थाली चौकी पर रख दी।

मैं चाय का गिलास ले कर दीवार से सट कर बैठ गया। कुछ देर तक हम दोनों ही चुप रहे, बीच-बीच में दरवाजा हुड़क उठता था। कुछ ऐसा लगता था, जैसे हम दोनों दुनिया के अंतिम छोर पर बैठे थे - जहाँ हवा और पेड़ों की सरसराहट के अलावा कुछ भी सुनाई नहीं देता था।

'चाय ठीक है? यहाँ लकड़ियों की बास आती है।' उन्होंने मेरी ओर देखा।

'आपके पास स्टोव नहीं है?' मैंने पूछा।

'तेल की झंझट पड़ती है, यहाँ आसानी से नहीं मिलता। सुबह टहलने निकलता हूँ तो लकड़ियाँ चुन लाता हूँ। सर्दियों में बहुत काम आती हैं। शकरपारे लो, तुम्हें तो नमकीन अच्छा लगता है।'

मैं खाने लगा; इतने बरसों बाद भी उन्हें मेरी पसंद-नापसंद याद रह गई थी, हालाँकि जब वे घर में थे, तो शायद ही उन्हें कभी हमारे बारे में पता चलता हो। वे निचली मंजिल में माँ के पास रहते थे और बहुत कम ऊपर आते थे। कभी-कभी मेरे बच्चे नीचे दालान में खेलने चले जाते थे, तभी उनसे हँस-बोल लेते थे। मुझे कुछ अजीब लगा, कि अभी तक उन्होंने घर के बारे में मुझसे कुछ भी नहीं पूछा था... किंतु शायद यह ठीक ही था। दस साल की हिस्ट्री - वे कहाँ से पूछते और मैं कहाँ से शुरू करता? हमारे बीच जो समय था, वह ही ठीक था, वह बीत रहा था। दोपहर खत्म हो चली थी और कोठरी के आगे पहाड़ों पर छाया उतरने लगी थी।

वही छाया हम दोनों के बीच भी सरक आई; कोठरी को दो हिस्सों में बाँटती हुई - एक, जहाँ वे बैठे थे, पीले, क्लांत अँधेरे में, दूसरे जहाँ मैं था, शाम की सँकरी, म्लान रोशनी में, जो हौले से देहरी तक खिसक आती थी। कुछ देर तक हम दोपहर की उस सुन्न, ठिठकी घड़ी में बैठे रहे।

'बच्चे कैसे हैं?' आखिर उनकी आवाज सुनाई दी।

'ठीक,' मैंने कहा, मैंने सोचा, वह कुछ और पूछेंगे, लेकिन जब वे चुप रहे, तो मैंने कहा, 'मुन्नी अब कॉलेज जाती है।'

'और छोटी?'

'वह काफी बड़ी हो गई है... यहाँ मेरे साथ आना चाहती थी।' मैंने थोड़ा हँस कर कहा।

'यहाँ?' उन्होंने मेरी ओर देखा।

'उसने पहाड़ कभी नहीं देखे... कहती थी, ताया जी वहाँ कैसे रहते हैं?'

'लेकिन उन दिनों तो वह बहुत छोटी थी, जब...'

'जब आपने घर छोड़ा था?' मैंने उनके वाक्य को पूरा करना चाहा, किंतु वह अधूरा ही हवा में लटकता रहा, दर्द की उस गुठली के इर्द-गिर्द, जो बरसों पहले मुरझा गई थी, मरी हुई पीड़ा के नीचे दबी हुई... शायद हर पीड़ा इसी तरह घिसटती रहती है।

बच्चों की बात बीच में छूट गई; वे उठ खड़े हुए और जूठे बर्तन समेटने लगे। 'तुम बैठो, मैं अभी आता हूँ।' वे पर्दा उठा कर नीचेवाली कोठरी में चले गए।

मैं कोठरी की मटियाली रोशनी में बैठा रहा। बाहर अब भी उजाला था। खुले दरवाजे से सब खुला दिखाई देता था... पहाड़ का निचला हिस्सा अँधेरे में डूबा था, लेकिन ऊपर पीठ पर अब भी धूप रेंग रही थी। कोठरी के नीचे कव्वों की काली कतार उतर रही थी -अपनी कर्कश चीखों से समूचे वायुमंडल को थरथराती हुई।

वे निचली कोठरी से ऊपर आए, तो हाथ में लालटेन थी। उसे चौकी पर रख कर उन्होंने मेरी ओर देखा, एक क्षण के लिए लगा, वे मुझसे कुछ कहना चाहते हैं, कुछ बहुत महत्वपूर्ण, लेकिन वे हिचकिचाहट में चुप बैठे रहे।

उनका सिर चौकी पर झुका था - सोचता हुआ - टिमटिमाती रोशनी में उनका सिर, सफेद होते बाल, पीछे की गर्दन और कंधों का उभार; अचानक मुझे लगा, जैसे मैं उन्हें नहीं - बाबू को देख रहा हूँ, जब मैं बहुत छोटा था और वे स्लेट पर मेरे सवाल हल करते थे और मैं गणित को भूल कर उनकी गर्दन को देखा करता था...

'क्या वे घर आते हैं?'

'कौन?' मैं कुछ सहम गया। बाबू? दूसरे क्षण अपनी गलती पता चली; वे बड़े भाई की बात कर रहे थे, जो जीवित थे, और दूसरे घर में रहते थे।

'जी... आते हैं। उन्होंने ही मुझे यहाँ आने के लिए कहा था।'

'तुम्हें? किसलिए?'

'वे मकान बेचना चाहते हैं; कागजों पर आपके दस्तखत कराने ही मैं आया था।' मैं हल्का-सा हो गया। जिस काम के लिए इतनी दूर आया था, वह इतनी आसानी से उनसे कह दूँगा, यह मुझे चमत्कार-सा जान पड़ा।

उन्होंने चौकी से सिर उठाया, एक क्षण के लिए मेरे ब्रीफकेस को देखा, जो अभी तक उपेक्षित फर्श पर पड़ा था। पहली बार उन्हें उन कागजों का मतलब समझ में आया, जो कुछ देर पहले उनकी सीढ़ियों पर हवा में उड़ रहे थे।

'और माँ?' उन्होंने मेरी ओर आँखें उठाईं, जिनमें एक अजीब-सी थकान छलक आई थी, 'वे कहाँ रहेंगी?'

'कहीं भी... जैसा वे ठीक समझेंगी।'

'और तुम?'

'मैंने किराए की एक जगह देख ली है।'

'फिर मुझसे पूछने की क्या जरूरत थी?'

'आपका भी तो मकान में हिस्सा है...' मैंने कहा।

वे धीरे से हँस पड़े, 'मैं यहाँ हूँ, मेरा हिस्सा पीछे कैसे छूट गया?'

मैं चुप उन्हें देखता रहा।

'मकान बेचना क्या बहुत जरूरी है?' उन्होंने आँखें खोल कर मुझे देखा।

'नहीं... जरूरी नहीं है; लेकिन बड़े देहरादून में जमीन खरीदना चाहते हैं, उसके लिए पैसा कहाँ से आएगा?'

'मकान बेच कर?' उनके स्वर में हल्का-सा व्यंग्य उभर आया।

'और कैसे?'

'लेकिन उसे बाबू ने खरीदा था; उसमें अपनी सारी पेंशन के पैसे लगाए थे।'

'हाँ, मुझे मालूम है... लेकिन बाबू अब नहीं हैं।'

'जो आदमी नहीं रहता, क्या उसकी चीजें हमारी हो जाती हैं?'

मैंने विस्मय से उन्हें देखा, मन में आया, कहूँ, आप तो सब कुछ छोड़ कर चले गए थे - अब मकान रहता है या बिकता है, इसकी चिंता क्यों?

सहसा वे चौकी के आगे झुक आए, एक अजीब मुस्कराहट में उनके होंठ खुल गए, 'जानते हो, जब बाबू ने वह मकान खरीदा था, तुम एम.ए. का फाइनल कर रहे थे; उन दिनों उस इलाके में बिजली नहीं आई थी और तुम ऊपर बरसाती में लालटेन जला कर पढ़ते थे।'

'जी, याद है।'

'तुम्हारा विवाह नीचे के आँगन में हुआ था।'

बरसाती, छत, आँगन, पता नहीं, वे मुझसे यह सब क्यों पूछ रहे थे?

नहीं, मकान नहीं... वे शायद कुछ और बात कहना चाह रहे थे और मैं अपने गुस्से की उमठन में कुछ भी नहीं समझ पा रहा था...

अचानक रोशनदान के खाली खोखल में कुछ चमका, जैसे कोई बनैला जानवर अपनी चमकीली आँख से भीतर झाँक कर अँधेरे में गायब हो जाए। मैंने कुछ भयभीत-सा हो कर उन्हें देखा, 'क्या है?'

'कुछ नहीं, बिजली चमकी है।'

मुझे किसी नई आशंका ने पकड़ लिया था। 'अब चलता हूँ, बारिश आई तो नीचे उतरना मुश्किल होगा।'

'तुम्हें जल्दी है?' उन्होंने मेरी ओर देखा।

'मास्टर जी परेशान होंगे, मैं उनसे बिना कुछ कहे चला आया था।'

'उन्हें मालूम होगा कि तुम यहाँ हो।' वे एक क्षण ठहरे और फिर कुछ झिझकते हुए कहा, 'आज रात यहाँ क्यों नहीं रुक जाते?'

मुझे इसी का डर था, मैं तैयार हो कर आया था।

'मुझे ब्लड-प्रेशर है... इतनी ऊँचाई पर रहना ठीक नहीं होगा।'

यह मूर्खतापूर्ण बहाना था। एक बार पहाड़ पर आ कर ऊँच-नीच क्या देखना? किंतु उनके साथ रात-भर रहना, यह मेरे लिए असह्य था। हम रात उसी के साथ बिताते हैं, जो बहुत आत्मीय हो, या बिल्कुल अजनबी; मेरा उनके साथ बीच का रिश्ता था, न इधर, न उधर, क्या इसीलिए घरवालों ने मुझे उनके पास भेजा था?

मैं झोला ले कर उठ खड़ा हुआ।

'ठहरो, मैं अभी आता हूँ।' वे नीचेवाली कोठरी में गए और जब ऊपर आए तो उनके एक हाथ में छतरी और दूसरे में टॉर्च थी, 'इसे रख लो,' उन्होंने छतरी मुझे दे दी, 'मैं तुम्हारे साथ मंदिर तक आता हूँ।'

वे कोठरी की सीढ़ियाँ उतरे, फिर टॉर्च आगे करके मेरा हाथ पकड़ कर नीचे उतार दिया। वे आगे-आगे चलने लगे, लेकिन मैं कुछ क्षण अँधेरे में खड़ा रहा; उनके हाथों की छुअन मेरी देह में घूमने लगी, एक शिकारी की तरह मेरी शिराओं में किसी दुबकी हुई याद को टोहती हुई - बीता हुआ स्नेह अँधेरे में जगमगा-सा उठा... क्या वे वही हैं, जिन्होंने घर छोड़ा था?

वे ठिठक गए। पीछे मुड़ कर मेरी ओर देखा, हँसने लगे, 'मैंने सोचा, तुम पीछे आ रहे हो?'

मैं चलने लगा। चारों तरफ साफ धुला हुआ अँधेरा फैला था। तारे बिल्कुल सिर पर थे, एक-दूसरे के इतना पास सटे हुए कि आकाश में कहीं भी खाली जगह दिखाई नहीं देती थी। मुझे अचंभा हुआ कि इतनी स्वच्छ रात में बिजली कहाँ से कड़की होगी?

वे टॉर्च जला कर सधे पैरों से चल रहे थे - रोशनी के गोले में पेड़, झाड़ियाँ, चट्टानें, धीरे-धीरे पीछे सरकते जाते थे। कभी-कभी कोई पक्षी अँधेरे में चीखता हुआ ऊपर से उड़ जाता और फिर झाड़ी में खटखटाहट सुनाई देती - जो शायद भ्रम था - झाड़ी पहले खटकती थी और पक्षी की उड़ान बाद में सुनाई देती थी, मेरे थैले में टिफिन का कटोरदान बार-बार मेरी थर्मस से टकराता था और तब अचानक मुझे याद आया।

'मेरा ब्रीफकेस?'

'क्या?' वे भी ठहर गए।

'मैं उसे आपकी कोठरी में ही भूल आया।'

'कोई बात नहीं... कल ले लेना।' फिर बहुत ही सहज स्वर में पूछा, 'क्या उसमें कोई तुम्हारी लिखी चीज है?'

पहली बार उन्होंने लिखने के बारे में पूछा था; मैं समझा था, वे अरसा पहले की मेरी इस अवैध, गोपनीय बीमारी को भूल चुके होंगे।

'नहीं, उसमें सिर्फ जायदाद के कागज हैं... आपके लिए कुछ पत्र हैं, उन्हें देख लीजिएगा।'

कुछ देर तक हम अँधेरे में चलते रहे, पगडंडी पर टॉर्च की रोशनी के अलावा कुछ भी दिखाई नहीं देता था।

'बहुत दिनों से तुम्हारी कोई चीज नहीं देखी।'

'लिखा नहीं, अखबार में बहुत काम रहता है। आपके यहाँ पत्रिकाएँ मिल जाती हैं?'

'मास्टर जी स्कूल की लायब्रेरी से कभी कोई चीज ले आते हैं... बहुत पहले शायद तुम्हारी कोई कहानी देखी थी।'

मैं धड़कते दिल को दबोचे अँधेरे में चलता रहा, एक गिलगिलाती शर्म में डूबा हुआ; बरसों पहले एक कहानी तो लिखी थी, दुर्भाग्यवश वह छपी भी थी, बल्कि छपाने के लिए ही उसे लिखा था; वह उनके बारे में उतनी नहीं थी, जो एक दिन अचानक घर छोड़ कर चले गए थे, बल्कि उन लोगों को ले कर थी, जो पीछे छूट गए थे। माँ और बाबू सोचते थे (माँ से ज्यादा बाबू आशावान थे, तब वे जीवित थे) कि उसे पढ़ते ही वे लौट आएँगे... लौटना तो दूर रहा, उन्होंने बीस पैसे का एक कार्ड भी नहीं भेजा। मुझे खुशी हुई कि वे अँधेरे में न मुझे देख सकते हैं, न मेरी शर्म को, लेकिन बरसों पहले की चोट मेरे भीतर के सब भटकावों को भेद कर सिर उठाने लगी, 'आप,' मैंने कहा, 'आपने खबर तक नहीं की?' यह कहते ही मेरा गला रुँध गया - यह दोहरी शर्म थी - दिल्ली से आते समय मैंने प्रण किया था कि उनसे यह प्रश्न कभी नहीं पूछूँगा और अब वह हम दोनों के बीच में था - बियाबान जंगल के बीच टॉर्च की गोल बिंदी पर अटका हुआ।

'इसका कोई फायदा नहीं था।' उन्होंने कहा।

'आपको मालूम है, हम आपको कहाँ-कहाँ ढूँढ़ते फिरे?'

नहीं, फायदा कुछ भी नहीं था, इस पहाड़ की शांत चोटी से क्या वे तलहटी के तिलचट्टों की बदहवासी समझ पाएँगे... अस्पतालों और स्टेशनों के चक्कर, पुलिस थानों की लिस्टों पर गुमनाम लोगों के नाम, मुर्दाघर की शिनाख्त, अखबारों में इश्तिहार - प्लीज कम, मदर इज इल...

'फायदा?'

'एक लाइन यह तो लिख सकते थे कि आप कहीं जीवित हैं?'

'अगर तुम्हें मालूम होता कि मैं जीवित हूँ, तो क्या तुम्हारी तकलीफ कम हो जाती?'

'मैं तकलीफ की बात नहीं कर रहा।'

'फिर?'

मैंने अपने भीतर टटोला और कुछ भी हाथ नहीं आया - न तकलीफ, न माँ का बुढ़ापा, न अपनी असफलताएँ - सब कुछ ऐसा ही होता, जैसा होना था।

'फिर इतने दिनों बाद चिट्ठी भेजने का क्या फायदा था?' मैंने पूछा।

वे कुछ देर चुप खड़े रहे। 'हाँ, शायद नहीं भेजनी चाहिए थी लेकिन...' उन्होंने अँधेरे में एक लंबी साँस ली।

'मुझे दस साल लगे कि तुम्हें कुछ लिख सकूँ; मैंने सोचा, अब तुम्हें कोई फर्क नहीं पड़ेगा कि मैं जीवित हूँ या नहीं...'

उनके स्वर में कुछ ऐसी उदास निस्संगता थी, जो हमें आदमियों में नहीं - पेड़ और पत्थरों और पानी में मिलती - जो रिश्तों की लहूलुहान पीड़ा से बाहर जान पड़ती है - क्या यह निस्संगता उन्होंने पिछले वर्षों के अकेलेपन में अर्जित की थी?

मैं चौंक गया। अँधेरे में कहीं नीचे एक हल्की-सी गड़गड़ाहट सुनाई दी, जैसे कोई भारी पत्थर ऊपर से लुढ़कता नीचे की ओर जा रहा हो।

'यह कैसी आवाज है?' मैंने उनकी ओर देखा।

'पहाड़ी झरना है, मैं यहीं से पानी लाता हूँ।'

'काफी नीचे जाना होता होगा?'

'नहीं... मेरी कोठरी के नीचे ही बहता है; कल आओगे तो देखने चलेंगे।'

वे खुद पानी लाते हैं? पता नहीं कैसे - उस क्षण मेरी शर्म और थकान और पिछले वर्षों की जमी नाराजगी घुल-सी गई, हम ठिठके हुए सन्नाटे में पानी का बहना सुनते रहे, कहीं ऊपर से मंदिर की घंटियाँ सुनाई दे रही थीं - शाम की आरती शुरू हो गई थी।

'अब आप लौटिए... मैं चला जाऊँगा।'

'अच्छा,' उन्होंने कहा, पर वे गए नहीं और मैं उनके साथ बँधा खड़ा रहा।

'मैं कल आऊँगा,' मैंने कुछ ऐसे कहा, मानो जो तसल्ली उन्होंने मुझे अब तक दी थी, अब उन्हें अकेला देख कर वापस लौटा रहा हूँ।

'तुम्हें कोई तकलीफ तो नहीं है?'

'कैसी तकलीफ?' मैंने उन्हें देखा।

'मास्टर जी का घर काफी छोटा है... तुम रेस्टहाउस में क्यों नहीं आ जाते?'

'नहीं, मैं ठीक हूँ, एक-दो दिन की ही तो बात है।'

एक-दो दिन... मेरे मुँह से निकल गया, हवा और मंदिर की घंटियों में ये शब्द पता नहीं कितनी देर तक झूलते रहे।

इस बार मैं रुका नहीं, सीधा मंदिर की ढलान पर नीचे उतरता गया। आखिरी मोड़ पर पीछे मुड़ा तो देखा, वे वहीं वैसे ही खड़े थे, जैसा मैं उन्हें छोड़ गया था - अविचलित और एक ही जगह।

नीचे मोटर-रोड की रोशनियाँ एक कतार में चमकीली झालर-सी टिमटिमा रही थीं। बीच में वह पहाड़ी शहर सफेद धुंध में लिपटा सो रहा था। क्या वे भी सो रहे होंगे? या अकेले अपनी कोठरी में बैठे होंगे? तुम पूरे दस साल बाद उनसे मिलने आए थे - और एक रात भी उनके साथ नहीं रह पाए? तुम लिखते हो, लेकिन जब कोई अभूतपूर्व सच्चाई रास्ते में मिल जाती है तो तुम किनारा करके भाग निकलते हो जैसे जीने का सच्चाई से और सच्चाई का लिखने से कोई नाता नहीं है। तीनों चीजें मरे मुर्दों की तरह

अलग-अलग फाँसियों पर झूलती रहती हैं, और अगर भागना ही था - तो एक रात भी क्यों ठहरे? मकान के कागजों पर दस्तखत कराते और अगली बस से वापस लौट जाते? क्या मतलब था रुकने का, अगर एक ही रात और शहर में अलग-अलग छतों के नीचे सोना था? हमारा परिवार और भाई-बहिन; आखिरी मौके पर पहुँच कर क्यों हम सब रूखे डंठल-से सूख जाते थे - सारा प्रेम कहीं राख और रेत में दब जाता था - और हम एक-दूसरे को अपनी हालत पर छोड़ कर अलग हो जाते थे; क्या यह उदासीनता अपने में पाप नहीं थी? क्या इसी पाप से आतंकित हो कर उन्होंने घर नहीं छोड़ा था?

उस रात मैं नीचे उतरता गया, गड़हे में जा कर अपनी शर्म और लांछना के कीचड़ में लिपट कर सोना - शायद वह उतना ही सुख देता है, जितना पहाड़ की स्वच्छ चोटी पर रहना। लेकिन गड़हा मेरे भीतर था और जब मैं मास्टर साहब के घर पहुँचा तो सिर्फ एक इच्छा सुलग रही थी - उनकी आँखों से गायब हो कर एक अदृश्य प्राणी की तरह अपने बिस्तर पर जा लेटूँ और सारी रात वहीं काट कर दूसरे दिन दिल्ली रवाना हो जाऊँ।

मास्टर जी शायद रसोई में थे, उन्हें पता भी न चला कि मैं कब दरवाजा खोल कर भीतर आ गया हूँ, उस क्षण मुझमें मास्टर जी का सामना करने की न शक्ति थी, न इच्छा; मैं जल्दी से कपड़े बदल कर बिस्तर में छिप जाना चाहता था। कमरे में आग बलबल सुलग रही थी; जब मैं अँगीठी के पास आया, मुझे अपने भीतर की ठंड और थकन का बोधा हुआ; इसके साथ ही अपने भीतर के तपते बुखार का खयाल आया - कहीं देह के भीतर मन का बुखार और मन के भीतर देह की ठिठुरन साथ-साथ एक-दूसरे को सता और सहला रहे थे, जिसमें मेरा साझा कहीं न था। यह अच्छा ही था। हम गृहस्थ लोगों के लिए यही सबसे बड़ी सांत्वना है; साधु-संन्यासियों की तरह हम संसार का त्याग भले ही न कर सकें, लेकिन कुछ देर के लिए अपने मन और शरीर से छुटकारा पा सकते हैं - अलग हो सकते हैं, थोड़ा-सा हल्के हो सकते हैं; किंतु उस रात मेरे भाग्य में यह नहीं बदा था। कपड़े बदल कर मैं बिस्तर पर लेटा ही था कि रसोई में हल्की-सी आहट सुनाई दी; मैं चौंक कर उठ बैठा; चौके की देहरी पर मास्टर जी खड़े थे। वे मुझे ऐसे घूर रहे थे, जैसे मैं रँगे हाथों पकड़ा गया हूँ, 'आप कब आए?'

'अभी कुछ देर पहले... मेरी तबीयत कुछ ठीक नहीं है।' मैंने अपने को बचाते हुए कहा। वे कुछ ढीले पड़े; मेरे बिस्तर के पास आए, 'मैंने आपसे पलंग पर सोने के लिए कहा था। इन दिनों फर्श पर सीलन रहती है।'

उन्होंने मेरे माथे पर हाथ रखा, फिर नाड़ी को परखा, 'बुखार तो नहीं है... थोड़ी-सी थकन होगी। मेरे पास ब्रांडी रखी है - थोड़ी-सी लीजिए, हाथ-पाँव में गरमाई आ जाएगी।'

उन्होंने अलमारी से एक छोटी-सी क्वार्टर बोतल निकाली और चौके से दो गिलास ले आए। मैं बिस्तर पर उठ कर बैठ गया; कमरे की आग के सामने हम दोनों कुछ ऐसे जान पड़ रहे थे जैसे पीने के लिए नहीं - किसी पहाड़ी देवता की पूजा के निमित्त बैठे हैं; बाहर अँधेरे में किसी पक्षी की अजब, आग्रह-भरी आवाज सुनाई दे जाती थी - जंगल की खामोशी को अपनी चोंच से छितराती हुई।

'निनीरा है; इसे सुन कर बच्चों को नींद आ जाती है।' उन्होंने ब्रांडी का घूँट लिया और मेरी ओर देखा, 'गर्म पानी चाहिए?'

'नहीं, ऐसे ठीक है... आपको यहाँ मिल जाती है?'

'नहीं, यहाँ कहाँ मिलेगी? कभी-कभी अल्मोड़ा या भुवाली से मँगवा लेता हूँ, बस के ड्राइवर ले आते हैं।'

आग की गरमाई रही होगी या ब्रांडी का असर, मुझे लगा, मेरी देह की गाँठें धीरे-धीरे खुल रही हैं; कुछ देर पहले मंदिर के नीचे जो विषाद और विक्षोभ की भावना आई थी, वह कहीं अलग न झूलती हुई मेरी आत्मा के चौखटे में फिट हो गई थी; सहसा मुझे लगा, इस दुनिया में कुछ भी बुरा नहीं है... मास्टर जी का एकटक मेरी तरफ घूरना भी नहीं। वे अजीब उत्सुकता में मुझे ताक रहे थे।

'मिल आए बाबा से?'

पहले क्षण मैं कुछ भी नहीं समझा, 'कौन-से बाबा?'

वे हँसने लगे, 'आप भी खूब हैं, जैसे यहाँ बाबाओं की भीड़ लगी है।'

मैं उनके खुले जबड़े और पीले दाँतों को देखता रहा। जिन्हें वे 'बाबा' कह रहे थे, उनका मुझसे कोई रिश्ता हो सकता है, यह उन्हें नहीं मालूम था; साधु-संन्यासियों का घर-परिवार हो सकता है, इसके बारे में कोई कभी सोचता भी नहीं, और यह बात मुझे पहली बार काफी विचित्र जान पड़ी।

'वे क्या अपनी कुटिया में ही थे?'

'जी... भला और कहाँ जाएँगे?' मैंने कुछ हैरानी से उन्हें देखा।

'हर जगह... पहले तो वे हर जगह घूमते थे; अपना सौदा-सुलुफ लेने भी खुद बाजार में नीचे आते थे।'

कहीं मेरे भीतर हल्की-सी उत्सुकता जागी।

'अब कहीं नहीं जाते?'

'कभी-कभी महीनों गुजर जाते हैं और उनके दर्शन नहीं होते; पहले मैं हाल-चाल पूछने उनकी कुटिया में चला जाता था - लेकिन उनका व्यवहार कुछ ऐसा अजीब दिखाई पड़ा कि मैंने भी जाना छोड़ दिया।'

'कैसा व्यवहार?'

वे आग की रोशनी में अपनी हथेली को ऐसे देख रहे थे जैसे मेरी बात का उत्तर वहाँ लिखा हो; फिर उन्होंने ब्रांडी का छोटा-सा घूँट लिया और मेरी ओर देखा, 'पिछली सर्दियों में मैं उनके लिए पानी लाता था; वे बहुत मना करते थे, लेकिन मेरी छुट्टियाँ थीं और मैं हर सुबह उनकी कुटिया में पहुँच जाता था। एक सुबह मैं झरने से पानी भर कर ला रहा था कि वे मुझे रास्ते में मिल गए; मुझे रोक कर बोले, 'क्या मैं उनके लिए लकड़ियाँ भी चुन कर ला सकता हूँ?'... 'क्यों नहीं,' मैंने कहा। वे कुछ देर तक मुझे देखते रहे, फिर मुस्करा कर कहा, 'और रोटी? क्या उनके लिए खाना भी बना सकता हूँ,' मैंने कहा, 'नो प्राब्लम...' दिन में एक बार खाते हैं; भला उनकी रोटी बनाने में कितनी देर लगेगी? 'और मैं?' उन्होंने पूछा, 'मैं क्या करूँगा?' मैंने कहा, 'बाबा, आप ईश्वर का ध्यान कीजिए, इसीलिए तो आप सब कुछ त्याग कर यहाँ आए हैं...' जानते हो, उन्होंने क्या कहा?'

मास्टर जी रुक कर आग की लपटों को देखते रहे; कुछ देर तक जलती हुई लकड़ियों की झिर-झिर के अलावा कुछ भी सुनाई नहीं देता था।

'क्या कहा उन्होंने?' मैंने उनकी ओर देखा।

कहने लगे, 'जिसके बारे में कुछ मालूम नहीं, उसका ध्यान कैसे हो सकता है?'

'यह उन्होंने कहा?'

'मैंने पूछा, अगर ऐसी बात है, तो घर-बार छोड़ कर यहाँ जंगल में आने की जरूरत क्यों? जानते हैं, उन्होंने क्या कहा? कहने लगे, मैंने कुछ भी नहीं छोड़ा - मैं सिर्फ यहाँ रहता हूँ। आप मेरा सब काम करेंगे, तो मैं क्या करूँगा? मैंने पानी की बाल्टी रास्ते में ही छोड़ दी... जो आदमी अपनी सेवा नहीं कराना जानता, वह 'उसकी' क्या सेवा करेगा?'

वे कुछ देर चुप बैठे रहे, फिर एक लंबी साँस ली।

'मैं यहाँ अकेला रहता हूँ - नौकरी के लिए - लेकिन वे यहाँ क्यों रहते हैं, यह कभी समझ में नहीं आया। न ध्यान-ज्ञान, न पूजा-पाठ... लोग उनसे मिलने आते हैं, तो चुपचाप बैठे रहते हैं - मैंने कभी उन्हें उपदेश का एक शब्द कहते नहीं सुना...'

'फिर भी लोग उनके पास आते हैं**?**' मैंने पूछा।

'क्यों नहीं**...** आप भी तो आखिर इतनी दूर से आए हैं।'

'नाम सुना था**...**' मैंने कहा।

'कोई मनोकामना ले कर आए हैं **-** या सिर्फ जिज्ञासा**?**'

मास्टर जी की टोहती आँखें मुझ पर टिकी थीं; मैंने भीतर झाँका - पुराने जालों के बीच जो चीज टँगी थी, वह न मनोकामना थी, न जिज्ञासा - हवा में डोलता सिर्फ एक टूटे रिश्ते का धागा था - जो कभी मास्टर जी से टकराता था, कभी मुझसे - लेकिन जिसको न वे समझ पाते थे, न मैं हटा पाता था...

'खाना लगाऊँ**,** बहुत देर हो गई है।'

मास्टर जी रसोई में चले गए, लेकिन मैं अपने बिस्तर पर बैठा रहा। बाहर झींगुरों का स्वर एक तान में बज रहा था। ब्रांडी लेने के बाद एक मंद आँच मेरे भीतर भी जलने लगी थी; अपने घर में था, तो गृहस्थी के बीच पता नहीं चलता था कि अरसे से मेरे भीतर कितनी ठंड और थकन जमा होती गई है।

'आप सो गए**?**'

मैं चौंक कर उठ बैठा। आग की हल्की गरमाई में मैं ऊँघने लगा था। उन्होंने दो थालियाँ फर्श पर रख दीं। दाल-सब्जी, मोटी गर्म रोटियाँ... अकेले ही उन्होंने सब बनाया था; उस क्षण मुझे मास्टर जी के जीवन से अद्‌भुत ईर्ष्या हुई; मैं दो दिन से

उनके घर में मेहमान बना बैठा था, जबकि उन्हें मेरे बारे में कुछ भी मालूम नहीं था। एकबारगी इच्छा हुई कि उन्हें सब बता दूँ, कह दूँ; उनके सहजी बाबा और कोई नहीं - मेरे भाई हैं, जिनसे मैं मिलने आया हूँ... लेकिन दूसरे ही क्षण कुछ भी कहने की इच्छा मर गई; मेरी बात सुन कर वे अजीब संकोच में फँस जाएँगे और फायदा कुछ भी नहीं होगा... कुछ सत्य बिल्कुल अनावश्यक होते हैं, उन्हें कहने, न कहने से कोई अंतर नहीं पड़ता।

'अभी तो आप कुछ दिन यहाँ रहेंगे?' उनके स्वर में कुछ अजीब-सी आतुरता थी।

'मुझे कल ही जाना है,' मैंने कुछ झिझकते हुए कहा, 'मैं सिर्फ दो दिन की छुट्टी ले कर आया था।'

'कहाँ काम करते हैं आप?' उन्होंने पहली बार मुझसे मेरी नीचेवाली जिंदगी के बारे में पूछा था - उनके स्वर में एक लगाव-भरी चिंता थी, जिसके कारण मैं उनका कृतज्ञ-सा हो आया। मैंने उन्हें अपनी अखबार की नौकरी के बारे में बताया... अपने बच्चों, गृहस्थी और घर के बारे में - वे चुपचाप सुनते रहे। जब मैं अपनी बात खत्म कर चुका और उनकी ओर से फिर भी कोई उत्तर नहीं आया, तो मुझे थोड़ा-सा संदेह हुआ, कहीं वे सो तो नहीं रहे? सिर उठा कर उन्हें देखा-कमरे की पीली चाँदनी में उनकी आँखें मुझ पर टिकी थीं; मुझे एक अजीब-सा खटका हुआ - पता नहीं वे क्या सोच रहे थे?

'एक बात कहूँ - आप घर-गृहस्थी छोड़ कर इतनी दूर आए हैं, कुछ दिन रुक क्यों नहीं जाते?'

'उससे क्या होगा?'

'बाबा का साथ रहेगा और क्या! वे भी इन दिनों कोठरी में अकेले पड़े रहते हैं।'

'आप भी तो यहाँ रहते हैं... फिर भी उनके पास नहीं जाते।'

'मुझे समझ में नहीं आता, उनसे क्या बात करूँ - पहले उनका थोड़ा-बहुत काम करने चला जाता था - अब उन्हें उसकी भी जरूरत नहीं पड़ती... पता नहीं, दिन-रात अकेले क्या करते हैं?'

'देखिए - उन्होंने घर-बार अपनी इच्छा से छोड़ा होगा - और अकेले रहना इतना बड़ा संताप भी नहीं है... आप भी तो यहाँ बिल्कुल अकेले रहते हैं?' मैंने कहा।

'मेरी बात बिल्कुल अलग है... मैं महीने में एक-दो बार अल्मोड़ा का चक्कर लगा आता हूँ, अगर यहाँ कोई ढंग का मकान मिल जाता, तो फेमिली को भी यहाँ ले आता...' वे एक क्षण रुके, मेरी ओर एक अजीब अर्थ-भरी दृष्टि से देखा, धीरे से कहा, 'एक बात मुझे समझ में नहीं आती, बाबा को यहाँ आए इतने वर्ष बीत गए, लेकिन उनके घर-परिवार का कोई आदमी उनसे नहीं मिलने आया।'

मुझे अजीब-सा संदेह हुआ कि उन्हें मेरे बारे में सब कुछ मालूम है... शायद पहले दिन से ही उन्हें मालूम था, जब वह बस-स्टेशन पर मिले थे... किंतु उनके चेहरे से कुछ पता नहीं चलता था।

'संभव है, उनके घरवालों को मालूम ही न हो कि वे यहाँ हैं।'

'इतने वर्षों में भी?' उन्होंने कुछ अविश्वास से मुझे देखा।

'शायद कोशिश की हो... इतना बड़ा देश है, कोई कहाँ तक छानता फिरेगा!' मैंने कहा।

वे कुछ देर अँधेरे में बाहर देखते रहे, फिर कुछ सोचते हुए कहा, 'मुमकिन है, उनका कोई न हो... कुछ लोग तो अपने अकेलेपन से घबरा कर ही संन्यास ले लेते हैं।'

'आपने कभी उनसे नहीं पूछा?'

'अपने बारे में वे इतना ही कहते हैं जितना ईश्वर के बारे में; कभी-कभी तो मुझे उनके संन्यासी होने पर भी शक होने लगता है।'

संन्यासी नहीं, तो और क्या हैं? दस साल पहले सबको रुला कर घर छोड़ा था - अब ईश्वर को छोड़ कहाँ जाएँगे? किंतु उस रात इसका उत्तर कहीं न था... मास्टर जी अपनी मंजी पर लेट गए और मैं अपने बिस्तर पर - बिल्कुल पिछली रात की तरह।

लेकिन पिछली रात की तरह कमरे में पूरा अँधेरा नहीं हुआ। चौके की खिड़की पर चाँद भीतर झाँक रहा था और कमरे की हर चीज एक महीन, पीले चूरे में चमकती जान पड़ती थी; देर तक मुझे नींद नहीं आई; घर की याद आती थी तो लगता था, वह कोई दूसरी दुनिया हो - और जब भाई की अकेली कोठरी के बारे में सोचता, तो लगता कि वह कोई तीसरी दुनिया है - और ये सब दुनियाएँ धारती पर अलग-अलग बिखरी हैं - दिखती पास-पास हैं, किंतु असल में एक-दूसरे से लाखों कि.मी. दूर हैं... क्या इनका

आपस में कोई संबंध नहीं? यह विचार ही मुझे भयंकर जान पड़ा; मैंने करवट ली ताकि इस प्रश्न को उठने से पहले ही बाजू में दबा कर सो सकूँ।

ऊपर कव्वे उड़ रहे थे। लश्कर-के-लश्कर; चीखते हुए वे नीचे उतरते और जहाँ थाह मिलती, वहाँ पसर जाते-पेड़, चट्टान, डगर, डाली; उनकी काँव-काँव से बाजार और मंदिर के बीच का आकाश थर्राने लगता था।

मैं बाजार में ही था - बस-स्टैंड के शेड के नीचे एक छोटी-सी भीड़ जमा थी; ढाबों के आगे कुत्ते और कुली ऊँघ रहे थे। मास्टरजी सबको धकियाते हुए आगे बढ़ गए और टिकट की खिड़की के आगे खड़े हो गए; खिड़की बंद थी... मास्टर जी ने दो-तीन बार उसे अपने घूँसों से खट-खटाया, अचानक एक सिर बाहर आया और मास्टर जी उससे बतियाने लगे, कुछ देर बाद वे मेरे पास आए।

'एडवांस बुकिंग नहीं होती - आपको बस में ही टिकट मिल जाएगा।'

'आपने टाइम पूछा?'

'शाम को एक ही बस दिल्ली जाती है - छह बजे। दूसरी बस आठ बजे, वह डायरेक्ट नहीं जाती - भुवाली से दूसरी बस लेनी पड़ती है।'

छह बजे। समय काफी था। घर से निकलने से पहले मैं अपना सामान बाँध चुका था... मास्टर जी की सलाह पर उसे बाजार में उनकी जान-पहचान के हलवाई की दुकान में रखवा दिया था, ताकि शाम को लौटने पर उसे लेने दोबारा घर न जाना पड़े। मेरे हाथ में सिर्फ अपना थैला था - और 'उनका' छाता।

'आइए, एक-एक चाय और हो जाए... आपको पूरी चढ़ाई पार करनी है।' मास्टर जी ने कहा।

सुबह की चाय हम उनके घर में ही ले चुके थे - लेकिन ठंड कुछ इतनी ज्यादा थी कि मैं ढाबे में कुछ देर भट्ठी के आगे बैठने का लालच नहीं रोक सका।

सुबह से ही मास्टर जी चुप थे; एक-दो बार मुझसे रुकने का आग्रह किया था, किंतु जब मैंने उन्हें बताया कि अगले दिन ही मुझे अखबार में अपना कॉलम लिखना है, तो उन्होंने जोर नहीं डाला; न सहजी बाबा के बारे में एक शब्द कहा; पिछली रात के बाद हमारे बीच एक मूक समझौता-सा हो गया था कि हम उनके बारे में चुप ही रहेंगे... न उन्होंने उनकी चर्चा छेड़ी, न मैंने कुछ कहा; हमारे बीच वे कुछ वैसे ही अदृश्य हो गए

थे, जैसे ऊँचाई पर उनकी कुटिया... वह बादलों में छिप गई थी; न मंदिर दिखाई देता था, न फॉरेस्ट रेस्टहाउस; वह कुछ वैसा ही पहाड़ी दिन था, जब बारिश नहीं होती, लेकिन धूप भी दिखाई नहीं देती - सिर्फ बादलों की कनात ऊपर से नीचे तनी रहती है।

'ये सब भुवाली से आते हैं।' मास्टर जी ने बादलों को देखते हुए कहा, 'बाकी सब रानीखेत-नैनीताल की तरफ उड़ जाते हैं... बची-खुची खुरचन यहाँ आती है... इनके लिए यह जगह काले पानी की सजा है और क्या...'

मैं चाय पीता हुआ रुक गया, 'इसके आगे नहीं जाते?'

वे हँसने लगे, 'इसके आगे कव्वे जाते हैं... देखते नहीं इनके लश्कर?'

वे चारों तरफ थे... मंदिर की पहाड़ी पर, बाजार के ऊपर छतों और पेड़ों पर चक्कर काटते हुए।

'आप सोचेंगे, इतना छोटा शहर और इतने कव्वे? कहते हैं, इस शहर पर एक शाप पड़ा था कि यहाँ के सब निवासी मृत्यु के बाद कव्वे की योनि प्राप्त करते हैं।'

'फिर भी लोग यहाँ रहते हैं?' मैंने कहा।

'हाँ, रहते हैं - क्योंकि एक विश्वास यह भी है कि ये सब कव्वे मरने पर मोक्ष प्राप्त करते हैं।' मास्टर जी ने कुछ गंभीरता से कहा, 'यह शहर एक तरह का ट्रांजिट स्टेशन है - कव्वे की योनि और निर्वाण के बीच।'

इस बार वे मुस्कराए नहीं... अपनी सूनी निगाहों से धुंध में डूबे शहर और उसके ऊपर फड़फड़ाते काले डैनों को देखते रहे... काले पानी का शहर... मुझे यह सोच कर कुछ अजीब-सा लगा कि भुवाली के बादल यहाँ आते हैं, आगे नहीं जाते... जैसे यह दुनिया का अंतिम छोर हो - मृतात्माओं और कव्वों का प्रदेश!

मैं आगे कुछ भी नहीं सोच सका; मास्टर जी ने भी जैसे अपनी मजाक-भरी कथा को आगे नहीं बढ़ाया - शायद वे भी अपनी जिंदगी के बारे में सोचने लगे, जो आधी से ज्यादा इसी शहर में बीत चुकी थी...

उन्होंने मुझे चाय के पैसे भी नहीं चुकाने दिए...

'मैं शाम को इसी ढाबे के सामने रहूँगा... आप जरा जल्दी आ जाइएगा - और...' वे एक क्षण झिझके; 'उनसे मेरा प्रणाम कहिएगा।'

'आप भी मेरे साथ चलिए... वे बहुत खुश होंगे।' मैंने आग्रह किया, मैं इस बार उनके पास अकेले नहीं जाना चाहता था।

मेरी बात सुन कर वे एकदम घबरा-से गए, 'नहीं... नहीं। मैं तो यहीं रहता हूँ - किसी भी दिन चला जाऊँगा... आप कोई रोज थोड़े ही आते हैं।'

वे जल्दी से मुड़ गए, बाजार की भीड़ में खो गए।

चढ़ाई पर कीचड़ थी; बूँदा-बाँदी ऊपर से। दोपहर के बीच ही अँधेरा-सा घिरने लगा था। मैंने उनकी छतरी खोल ली और तेज कदमों से ऊपर चढ़ने लगा। मंदिर की सीढ़ियों तक पहुँचते-पहुँचते मेरी साँस फूल आई, एक बार इच्छा हुई, कुछ देर वहीं बैठ कर स्वस्थ हो लूँ, उनके पास इस तरह लस्तम-पस्तम जाना ठीक नहीं होगा; फिर खयाल आया, अगर शाम की बस पकड़नी है, तो जितना समय उनके पास बिता सकूँ, वही अच्छा है, दो-चार मिनट सीढ़ियों पर सुस्ता कर मैं दोबारा ऊपर चढ़ने लगा।

पगडंडी के नीचे सुंदर पहाड़ी कॉटेज थीं, अंग्रेजों के जमाने की... एक क्षण विश्वास नहीं हुआ कि वहाँ संभ्रांत लोग रहते होंगे - जिनका अघोरी बाबा के नंगेपन, भाई की कुटिया और मास्टर जी के अकेलेपन से कोई लेना-देना नहीं, कभी किसी खुले दरवाजे से भीतर की झलक मिल जाती - सुलगती हुई फायरप्लेस... कहीं गलियारे में लड़कियों की हँसती आवाजें... रेडियो का संगीत; यह वही दुनिया थी, जिसकी सुरक्षित चहारदीवारी के बीच मैंने अपने चालीस वर्ष गुजारे थे - किंतु बाहर धुंध में ठिठुरते हुए वह दुनिया कितनी बेगानी जान पड़ती थी; सहसा एक रिरियाते से डर ने मुझे पकड़ लिया - अगर कोई मुझे अचानक इस सुंदर और सुरक्षित दुनिया से बाहर फेंक दे तो मेरा क्या हाल होगा... मैं उस टिड्डे की तरह अँधेरे में चक्कर लगाऊँगा जिसे एक अँगुली से पकड़ कर ड्राइंगरूम की खिड़की के बाहर फेंक दिया जाता है... और जो कभी दोबारा भीतर आने का रास्ता नहीं ढूँढ़ पाता; किंतु अगले क्षण ही मुझे अपने डर पर हँसी आने लगी - मैंने अपने कोट के भीतर हाथ डाला, वहाँ मेरे बैंक की पासबुक थी; गले में लिपटे मफलर को छुआ, जो पिछली वर्षगाँठ पर मेरी पत्नी ने मुझे भेंट की थी, मेरे चमड़े के वैलेट में मेरे दोनों बच्चों की तस्वीरें थीं, दिल्ली में मकान था, किताबें थीं, जिन पर मेरा नाम लिखा था - सब ठोस पक्की चीजें, जिनसे मेरा इस धरती पर होना साबित होता था, मैं वही था, जो चालीस साल पहले इस दुनिया में आया था, एक पीस में जड़ा हुआ जीव, एक निरंतर प्राणी - जिसके बीच कोई काट-फाँक नहीं थी; यह असंभव लगा कि यह जीव मुझे एक दिन अनाथ पतंगे की तरह अँधेरे में छोड़ कर गायब हो जाएगा... मैं जल्दी-जल्दी उनकी कुटिया की तरफ बढ़ने लगा; एक अजीब

खुशी ने मुझे पकड़ लिया, कुछ घंटों बाद शाम की बस से मैं अपनी जानी-पहचानी दुनिया में लौट जाऊँगा... डर का कोई कारण नहीं था।

मैंने धीरज की साँस ली, जब देखा, उनकी कोठरी में उजाला है - ज्यादा नहीं - उतना ही, जितना एक धुँधली दोपहर में लालटेन से बाहर आता है; मेरे लिए उतना ही काफी था। लगभग दौड़ते हुए मैं कुटिया की तीन सीढ़ियाँ चढ़ गया; साँकल खटखटाने के लिए हाथ बढ़ाया, तो बीच में ही ठिठक गया। क्या उनके साथ कोई भीतर है? उनकी आवाज सुनाई दी - ऐसी आवाज - जो न अकेली होती है, न किसी के साथ होती है, जैसे कोई नींद या बुखार में बुड़बुड़ाता है, आधे शब्द सुनाई देते हैं, आधे ऊपर से निकल जाते हैं - क्या वे प्रार्थना कर रहे थे, या अपने से ही बोल रहे थे? लेकिन तभी वे दिखाई दिए -दरवाजे के पल्लों के बीच वे मेरी नजर के घेरे में आ गए; वे रोशनदान के आगे खड़े थे...

मैं आज भी वह दृश्य नहीं भूल पाता; उसे 'दृश्य' भी कहना गलत होगा - दरवाजे के बीच सुराख से जो दिखाई दिया, वहाँ न सहजी बाबा थे, न मेरे भाई थे - वहाँ एक ऐसे आदमी खड़े थे, जो दीन-दुनिया से बेखबर अपने से बात कर रहे थे और बीच-बीच में खुद ही हँसने लगते थे... दरवाजे से चिपटा, लुटा-पिटा मैं उन्हें देखता रहा - एक सम्मोहित पशु-सा, जो भय और मोह के बीच जड़ पुतले-सा खड़ा रहता है... लेकिन मेरा दूसरा हिस्सा मुझसे छिटक कर उनसे जा चिपटा था, हैरत में चीख रहा था - यह आप क्या कर रहे हैं? किससे बातें कर रहे हैं? किस पर हँस रहे हैं?

कहते हैं, जब आत्मा गूँगी पड़ जाती है, तब देह की आवाज सुनाई देती है; सन्नाटे में खून सनसनाता है और तब हम होश में आ जाते हैं, अपने दिल की धाड़कन को पहली बार सुनते हैं; ऐसा ही मेरे साथ हुआ; मुझे पता भी न चला, कब मैंने साँकल खटखटाई, कब उन्होंने दरवाजा खोला - मुझे अपने कंधे पर उनका हाथ और उनके शब्द एक साथ सुनाई दिए, 'कहाँ रहे? मैं सुबह से तुम्हारे इंतजार में बैठा था।'

उनका स्वर इतना सहज और शांत था कि अनायास मैंने ऊपर देखा - वे मुस्करा रहे थे; क्या ये वही आदमी थे, जो कुछ मिनट पहले अकेले में हँस रहे थे?

'आप...?' मैंने कहा; फिर मैंने अपना वाक्य अधूरा छोड़ दिया; किसी ने मेरे भीतर की साँकल लगा दी; मैंने अपने विगत जीवन में आँख मूँद कर इतने दरवाजे बंद किए हैं - एक यह भी सही।

'आपका हाथ बहुत गर्म है।' मैंने कहा, 'तबीयत ठीक है?'

उन्होंने धीरे से अपना हाथ मेरे कंधे से अलग कर दिया, फिर ऐसे कहा, जैसे मेरी बात को सुना भी न हो, 'बाहर सर्दी है - भीतर चले आओ।'

मैंने उनकी छतरी कोने में रख दी; जूते उतार दिए; भीतर उतनी ही सर्दी थी, जितनी बाहर; नंगे कमरे में लालटेन की रोशनी और भी अधिक ठंडी और मैली जान पड़ती थी।

'इतनी देर कहाँ रहे?' उन्होंने पूछा।

'मास्टर जी के साथ बाजार आया था... बस में सीट बुक करवानी थी।'

वे चुप रहे; लालटेन के दायरे में उनका सफेद चेहरा, सलेटी दाढ़ी और घनी काली भँवें एक निष्प्रभ आकार में सिमट गई थीं... एक तपता चेहरा - जो न सौम्य था, न कठोर - सिर्फ निर्विकार-सा मुझे ताक रहा था।

'आज सुबह टहलता हुआ मैं फॉरेस्ट रेस्टहाउस गया था... उसके मैनेजर मुझे जानते हैं... वे आसानी से एक कमरा तुम्हारे लिए बुक करवा सकते हैं।'

'उससे क्या होगा?'

'तुम कुछ दिन यहाँ आराम से रह सकते हो... इतनी जल्दी क्या है?'

उनके स्वर में थोड़ा-सा आग्रह था, हल्का-सा सूखा स्नेह... जो ढुरकता नहीं था इसलिए उसे झेल पाना और भी दुखद और दुश्वार जान पड़ता था।

'आपको अच्छा लगेगा?' मैंने कहा।

वे धीरे से हँस पड़े, 'तुम सिर्फ मेरे लिए ही रुकना चाहोगे?'

'और यहाँ कौन है? मैं आपसे मिलने आया था।'

'नहीं... मैंने सोचा, शायद तुम कुछ दिन यहाँ रुकना चाहो... दिल्ली में तो रहना ही है।'

'आप सचमुच यह चाहते हैं?' मैंने कहा।

'मेरे चाहने की बात नहीं...' वे कुछ देर चुप बैठे रहे, फिर धीरे से कहा, 'अरसे से तुमने छुट्टी नहीं ली... तुम छुट्टी मान कर ही यहाँ रह सकते हो।'

'वे सोचेंगे, मैं भी आपके साथ मिल गया हूँ। घर में क्या एक संन्यासी काफी नहीं है?'

वे मुस्कराने लगे, 'क्या वे मुझे संन्यासी समझते हैं? मैं तो यहाँ वैसे ही रहता हूँ, जैसे घर में रहता था... सिर्फ जगह बदल जाती है।'

'और आप? आप बिल्कुल नहीं बदले?' मैंने कुछ कौतूहल से उन्हें देखा।

'तुम क्या सोचते हो?' उनकी आँखों में एक अजीब शरारती-सी चमक तैर रही थी।

'मैंने कभी नहीं सोचा था कि आपको इस जिंदगी में देखना संभव हो पाएगा।'

'इस जिंदगी में?' उन्होंने विस्मय से मुझे देखा, 'इसके अलावा दूसरी जिंदगी कौन-सी है?'

क्या वे मेरे साथ खिलवाड़ कर रहे हैं? लेकिन उनकी आँखें स्थिर थीं और चेहरे पर एक उदास-सी निमग्नता घिर आई थी।

'अगर एक ही जिंदगी है, तो फिर जगह बदलने का भी क्या मतलब है... जैसे यहाँ वैसे वहाँ।' मैंने कहा।

'अंतर है... वहाँ दूसरों के लिए मेरा कोई मतलब नहीं था।'

'और यहाँ?'

'यहाँ दूसरे नहीं हैं...' वे मुस्कराने लगे, 'इसीलिए अपने मतलब के बारे में ही सोचना पड़ता है...'

'क्या यह संभव है... दूसरों को बिल्कुल छोड़ देना?'

वे कुछ सोचने लगे; दोपहर के मलिन आलोक में उनका सिर चौकी पर रुक आया था, सिर्फ बालों की सफेद लटें दिखाई देती थीं - कुछ देर पहले जिस चेहरे को हँसते देखा था वह अब एक अँधेरी बावड़ी पर ठिठकी छाया-सा दिखाई देता था।

'नहीं... संभव नहीं है,' उन्होंने कहा, 'तभी तो मैंने तुम्हें चिट्ठी भेजी थी। संन्यासी होने के लिए सिर्फ छोड़ना ही काफी नहीं है...'

वे दीवार पर पीठ लगाए थोड़ा-सा झुक आए थे; आँखें मुँदी थीं; दरवाजे का पल्ला धीरे-धीरे हिल रहा था। हवा उठती थी, और बाहर की धूल और पत्तियाँ भीतर ले आती थी।

उन्होंने अचानक आँखें खोल दीं।

'कोई आया था**?**' उन्होंने कुछ हैरत से मुझे देखा।

'नहीं,' मैंने कहा, लेकिन तभी बाहर पैरों की आहट सुनाई दी; कुछ लोग सीढ़ियों के नीचे खड़े थे।

'जरा देखो कौन है?' उन्होंने मेरी ओर देखा। मैं उठ कर देहरी के पास आया; दरवाजा पूरी तरह खोल दिया; नीचे तीन-चार संभ्रांत-से दिखनेवाले व्यक्ति खड़े थे... साथ में दो महिलाएँ भी थीं। मुझे देख कर एक सज्जन आगे बढ़े, 'क्या बाबा भीतर हैं?'

मैं कुछ कह पाता कि मुझे अपने पीछे उनकी आवाज सुनाई दी, 'आप बाहर बैठिए, मैं आता हूँ।'

उनका स्वर सुनते ही सबके हाथ जुड़ गए। मैं अलग हट गया। वह नीचे सीढ़ियों पर आए तो हर व्यक्ति आगे बढ़ कर उनके पैर छू लेता था। सबसे बाद में एक बहुत कम उम्र की महिला आईं, काली शॉल में लिपटी हुईं-एक क्षण बाबा को देखा... और फिर बहुत देर तक उनके पैरों के पास सिर टिका कर बैठी रहीं।

वे निश्चल खड़े थे; न एक शब्द कहा, न हाथ उठा कर कोई आशीर्वाद दिया। कुछ देर बाद वे मेरी तरफ मुड़े, 'तुम बैठो, मैं अभी आता हूँ।' उनके चेहरे पर अजीब-सा संकोच था; मैं निढाल-सा खड़ा रहा, क्या इन लोगों के सामने उन्हें मुझसे शर्म-सी आ रही थी?

मैं भीतर आया और लालटेन की बत्ती धीमी कर दी... सिर्फ इतनी रोशनी रहने दी कि बाहर का हल्का उजाला भीतर आता रहे; वे कुटिया के बाहर बांज के नीचे एक सफेद चबूतरे पर बैठे थे; कभी-कभी उनमें से किसी की आवाज भीतर आ जाती थी, अलग-अलग टुकड़ों में बाबा से कुछ कहती हुई, लेकिन उनका स्वर एक बार भी सुनाई नहीं दिया - और तब मुझे अपने प्रश्न पर ही शर्म आने लगी, जो मैंने उनसे पूछा था... दूसरे लोग? उन्होंने हमें छोड़ दिया था, लेकिन ये लोग? उन्हें इनसे क्या मिलता होगा, जो यहाँ आते हैं, कुछ जरूर होगा, जिसके बारे में मुझे कुछ भी नहीं मालूम, क्या मैं अपने भाई के रूप में एक अजनबी से मिल रहा था, उनसे वह सब पूछ रहा था, जिसका इस जगह कोई मतलब नहीं था और तब मुझे बरसों पहले की घटना याद हो आई, जब

मैं उन्हें ढूँढ़ने अस्पताल के मुर्दाघर में गया था। मुझे लगा, चबूतरे के आगे जो लोग उनके दर्शन करने आए हैं, मैं भी उन्हीं की लाइन में खड़ा हो गया हूँ, किंतु वह कोई दूसरी जगह थी, दूसरा समय - वहाँ सफेद चबूतरे की जगह बर्फ की सिलें रखी थीं, जिन पर लोगों की लाशें मछलियों-सी रखी थीं। मैं हर सिल के आगे रुक जाता था - क्या यह वे हैं? लेकिन हर बार जब मैं रुकता, मुर्दाघर का अटेंडेंट मुझे पीछे से धक्का दे देता था, जल्दी कीजिए, आपके ही नहीं दूसरों के मुर्दे भी पड़े हैं, पहचानिए और आगे बढ़िए... दूसरों के मुर्दे? मैं धक्के खाता हुआ आगे बढ़ गया... दस साल आगे... और अचानक समझ नहीं पाया कि मैं बर्फ की सिल पर लेटा हुआ उन्हें देख रहा हूँ या वे ऊपर से झुक कर मुझे निहार रहे हैं...

'छोटे!'

एक धीमी-सी आवाज सुनाई दी; मेरे ऊपर लालटेन थी और वे मुझे बुला रहे थे, दस साल बाद उनके मुँह से अपना घर का नाम सुन कर मैं हड़बड़ा कर उठ बैठा। लगा, मैं अपने घर में हूँ; आँखें फाड़ते हुए उन्हें देखने लगा जो ऊपर से मुझे देख रहे थे।

'तुम सो गए थे?' उन्होंने धीरे से कहा। मैंने देखा, मेरे ऊपर उनका कंबल बिछा है, मेरी देह में गरमाया हुआ।

'वे लोग चले गए?' मैं हड़बड़ा कर उठ बैठा।

'बहुत पहले के...'

'आप यह कंबल कब दे गए?'

'जब मैं भीतर आया, तुम ऐसे ठिठुर रहे थे, जैसे बर्फ पर लेटे हो।' उन्होंने मुस्कराते हुए कहा।

बर्फ पर? मुझे लगा, मैं किसी दस साल पुराने सपने से बाहर निकल आया हूँ; कोठरी में हल्की पीली-सी रोशनी फैली थी; डूबने से पहले सूरज बाहर निकल आया था; एक पीली-सी चमक पहाड़ों पर उतर आई थी।

वे मेरे पास झुक आए, बहुत कोमल स्वर में कहा, 'थोड़ा आराम कर लो, अभी चाय बना लाता हूँ।'

मैंने उन्हें देखा - वही शांत चेहरा और छोटी-सी मुस्कराहट - जैसे वे भी अभी-अभी बर्फ की सिल से उठ कर बाहर आए हों, बाहर उजाले में, जहाँ उनकी दुनिया मेरे अतीत

से मिल गई थी; शाम की उस घड़ी में मेरा उन्हें देखना और उनका चुप रहना एक तरह की तैयारी थी, जहाँ पिछले वर्षों का गूँगा रेगिस्तान एक क्षण में नाप लिया जाता है... शायद इसीलिए उन्होंने मुझे बुलाया था... वे शायद अंतिम बार मुझसे - घर से-छुटकारा पा लेना चाहते थे।

मैं धीरे से उठा, उनका कंबल तहा कर कोने में रख दिया। फिर देहरी पर आया, अपने जूते पहने और थैला उठा कर उन्हें देखा; वे अब भी लालटेन ले कर खड़े थे, हालाँकि अब उजाले में उसकी कोई जरूरत नहीं थी।

'मैं चलूँगा - बस जाती होगी।'

वे चुप खड़े रहे। फिर धीरे से कहा, 'ठहरो, अभी आता हूँ।'

वे नीचे कमरे में गए। जब ऊपर आए तो उनके हाथ में लालटेन नहीं थी।

'तुम इसे फिर भूल गए,' उन्होंने मेरा ब्रीफकेस मुझे लौटाते हुए कहा, 'पत्र मैंने रख लिए हैं और...' वे एक क्षण रुके, फिर धीमे से कहा, 'तुम देख लेना, कागजों पर दस्तखत मैंने कर दिए हैं।'

मैंने उन्हें देखा; वे थोड़ा-सा मुड़ गए थे; बाहर पेड़ों से छनती धूप उनके पैरों पर गिर रही थी। मैं भी झुक गया, कुछ देर झुका रहा... और मुझे लगा, जैसे कोई मेरे सिर को सहला रहा है, एक गर्म तपती-सी छुअन जो धीरे-धीरे मेरी देह को ताप रही थी...

सिर उठाया, तो कोठरी में कोई नहीं था, रोशनदान से बांज के पेड़ की छाया नीचे ढुरक आई थी और जहाँ वे खड़े थे, वहाँ धूप का एक चकत्ता चुपचाप सरक आया था। मेरी यात्रा का अंत शायद ऐसे ही होना था।

मैंने ब्रीफकेस उठाया और बाहर चला आया।

उसके बाद कुछ नहीं है; मैं पेड़ों के बीच धूप में धुली पगडंडी उतरने लगा - वह कितना नीचे उतरती थी। दिल्ली शहर और दोस्त, अखबार का दफ्तर, गर्मी की सनसनाती लू-भरी दोपहरें और मेरी सच्ची-झूठी कहानियाँ... मैं धीरे-धीरे उस ऊँचाई को भूल गया, जहाँ, उनसे, मास्टर जी से, अघोरी बाबा से मिला था... वे दोनों ही मुझे बस-अड्डे पर छोड़ने आए थे, उनके चेहरे समय के साथ धुँधले पड़ गए हैं, लेकिन कभी-कभी अकेले क्षणों में सहसा मास्टर जी का प्रश्न उमग आता है। बस की खिड़की से सट कर उन्होंने असीम जिज्ञासा से पूछा था, 'आप जो मनोकामना ले कर उनके

पास गए थे, वह क्या पूरी हो गई?' इससे पहले मैं कोई उत्तर सोच पाता, बस चल पड़ी; मास्टर जी कुछ दूर बस के साथ-साथ भागते आए, लेकिन अघोरी बाबा मुझसे उदासीन ऊपर देख रहे थे... पेड़ों के ऊपर हवा में फड़फड़ाता हुआ एक काला बवंडर उठ रहा था; हजारों कव्वे जंगल पर चक्कर काटते हुए मंदिर की तरफ उड़ रहे थे।